

रामाश्रम सत्संग डिजिटल प्रकाशन

सद-विचार --- सद्ज्ञान

(राम सन्देश से चयनित लेखों का संकलन)

(भाग - 3)

रामाश्रम सत्संग (रजि०)
SE- 297, शास्त्री नगर
गाज़ियाबाद- 201009 (उ०प्र०)

अनुक्रमाणिका

- 1। आत्म चिन्तन से शान्ति
- 2। इरशादात परमहंस जी
- 3। उपनिषद की दिव्य शिक्षा
- 4। एक महात्मा के वचन
- 5। एकाग्रता
- 6। कर्म सिद्धान्त
- 7। गुरु ईश्वर का पूर्ण स्वरुप है
- 8। गुरु प्रेम से ही जीवन का सर्वस्व है
- 9। गुरु महिमा
- 10। गुरु-भक्ति में निरन्तर प्रयास की अमिट महिमा
- 11। गोपियों के चीर हरण की प्रासंगिकता
- 12। जीवन में निराशाओं से थकित न हों
- 13। दीनता
- 14। नाम की महिमा
- 15। प्रणव (ॐ) आदि शब्द उपासना
- 16। मन को एकाग्र करना
- 17। मानव जीवन की सार्थकता
- 18। वास्तविक आनन्द कहाँ है ?
- 19। शब्द
- 20। संत मत में गुरु भक्ति ही आधार है
- 21। सत्कथा, सत्संग, सदाचार
- 22। सत्संग
- 23। साधना के सन्दर्भ में ज़िक्र और फ़िक्र
- 24। स्वयं को शिवानी के चरणों में अर्पित कर दो
- 25। हिन्दू धर्म - उसका शरीर और आत्मा

आत्म चिन्तन से शान्ति

विचारों के प्रबन्धन के लिए दो अभ्यास बड़े प्रभावी हैं। प्रातः शान्त चित होकर बैठना और रात्रि को सोने से पहले स्वयं का 'ऑडिट' (लेखा-जोखा) करना।

प्रातः खुले में शान्ति से बैठें, दौड़ते-भागते विचारों की लगाम कसने या किसी प्रकार का हठ-योग करने की आवश्यकता नहीं है। बस बैठें और अपनी श्वांस पर ध्यान जमायें, उसका आना जाना महसूस करते रहें। मुश्किल से दस मिनट लगेंगे कि आपकी श्वांस गहरी होती जायेगी। आनन्द आने लगेगा। इस अभ्यास को एक घण्टे प्रतिदिन करें, फिर देखें उसका प्रभाव।

सोने से पहले, दिन में किये गये अपने कार्यों और व्यवहार का 'ऑडिट' करें। इसके लिए पन्द्रह मिनट बहुत हैं। सोचें कि जो काम किया वह गलत था या सही, कैसा व्यवहार था दूसरों के प्रति, किसी भाषा थी, उससे वातावरण या कोई कितना अशान्त हुआ, क्या वैसा करना ज़रूरी था ? यदि नहीं, तो आगे वैसा न हो - बस इसी से हो जायेगी 'ऑडिट'।

श्वांस को लयबद्ध बनाने में (rhythmic breathing regulation) मनभावन संगीत सुनना, स्वयं गाना, प्रार्थना या कीर्तन आदि सहायक हो सकते हैं, क्योंकि ये सब कार्य विचार श्रंखला को केन्द्रित करते हैं।

जीवन में समय प्रबन्धन के लिए प्राथमिकता निर्धारण, समय का सदुपयोग, भौतिक आकर्षण से यथा-सम्भव दूरी, स्वाध्याय तथा अच्छे लोगों के साथ सहयोग और सदभाव के सम्बन्ध बनाये रखना उपयोगी होता है।

-- स्वामी विवेकानन्द

ईश्वर को जान लो

उस एक ईश्वर को जानो, उसे जानने से तुम सभी कुछ जान जाओगे। एक के बाद एक शून्य लगाते हुए सैकड़ों और हज़ारों की संख्या प्राप्त होती है परन्तु एक को मिटा डालने पर शून्य का महत्व नहीं होता। एक ही के कारण शून्य का मूल्य है। पहले एक के बाद में बहु, पहले ईश्वर फिर जीवा

मुसाफ़िर को नए शहर में पहुँचकर पहले रात बिताने के लिए सुरक्षित डेरे का बन्दोबस्त कर लेना चाहिये। डेरे में अपना सामान रख कर निश्चिन्त होकर शहर घूम सकते हैं। परन्तु यदि रहने का बन्दोबस्त न हो तो रात के समय अन्धेरे में विश्राम करने के लिए जगह खोजने में बहुत तकलीफ़ उठानी पड़ती है।

उसी प्रकार इस संसार रूपी परदेस में आकर मनुष्य को पहले ईश्वर-रूपी चिर विश्रामालय प्राप्त कर लेना चाहिये, फिर निर्भय होकर अपने नित कर्तव्यों को करते हुए संसार में भ्रमण कर सकता है। किन्तु यदि ऐसा न हो तो जब मृत्यु की अन्धकार पूर्ण रात्रि आयेगी तब उसे अत्यंत क्लेश एवं दुःख भोगना पड़ेगा।

जब एक तराजू का पड़ला दूसरे पड़ले से भारी होकर झुक जाता है तो उसका निचला काँटा ऊपर वाले काँटे से अलग हट जाता है। इसी प्रकार जब मनुष्य का मन कामनी-कंचन के भार से संसार की ओर झुकता जाता है तो वह ईश्वर व उसके प्रेम सम्बन्ध से दूर हट जाता है। तब उनसे एकात्म नहीं हो पाता।

-- स्वामी रामकृष्ण परमहंस

गुरु और गुरुमंत्र

अच्छा तो यही है कि साधना में किसी सद्गुरु का निर्देश हो। ध्येय कोई भी भगवत स्वरूप हो सकता है, गुरु भी हो सकते हैं, अथवा कोई प्रिय विषय भी हो सकता है। ध्यान का प्रयोजन मन की एकाग्रता और व्यक्ति की तदरूपकता है।

शास्त्रों में गुरु तत्व को ईश्वर तत्व से भी बढ़कर बताया गया है। भगवत तत्व जगन्नियता है - कर्मों के अनुसार ही जीव को भोग देता है। परन्तु गुरु-तत्व असीम दया और करुणा के सागर हैं। गुरु कृपा अहैतुकी है, इसलिए शक्ति भी अचिन्त्य है।

गुरु तत्व आकाश की भाँति सर्वत्र विराजमान है, क्योंकि परम-तत्व और गुरु-तत्व में कोई भेद नहीं है। गुरु भगवत स्वरूप ही हैं, उनके दर्शन, स्पर्श अथवा शब्द मात्र से ही तत्व ज्ञान हो सकता है।

गुरु को भी रेडियो स्टेशन जैसा ही समझो। गुरु-मन्त्र के पीछे गुरु की आध्यत्मिक शक्ति है जो शिष्य को विशेष सामर्थ्य प्रदान करती है जिससे कि बैटरी चार्ज हो जाये। गुरु की आवश्यकता इसी कारण होती है। इसी में गुरु की महिमा निहित है।

गुरु तथा शास्त्र का काम केवल मार्गदर्शन करना है। अपरोक्ष ज्ञान की अनुभूति अथवा परोक्ष ज्ञान प्रतिभा की प्राप्ति, साधक की साधना पर आश्रित है।

सद्गुरु की प्राप्ति प्रयत्न साध्य नहीं है। जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों से ही गुरु की प्राप्ति होती है। पहले तो सद्गुरु की प्राप्ति कठिन है, फिर यदि प्राप्त हो भी जाये तो गुरु में पूर्ण श्रद्धा भाव कठिन है, और श्रद्धा भाव भी उत्पन्न हो जाये तो गुरु कृपा कठिन है।

--- ब्रह्मर्षि श्री देवराहा बाबा

संत सद्गुरु की कृपा

गुरु कृपा अथवा संत कृपा का विशेष माहात्म्य है। भगवान की कृपा से जीव को मानव शरीर मिलता है और गुरु कृपा से भगवान मिलते हैं। अपने-अपने बालकों का सभी पालन-पोषण करते हैं। परन्तु संत कृपा विलक्षण होती है। दीन दुखी को देखकर संत का हृदय द्रवित हो जाता है, संत सब पर कृपा करते हैं। परन्तु परमात्म तत्व का जिज्ञासु ही उस कृपा को ग्रहण करता है, जैसे प्यासा जल को ग्रहण करता है। वास्तव में सत्य तत्व की जिज्ञासा जितनी अधिक होती है, उतना ही वह उस कृपा को अधिक ग्रहण करता है। सच्चे जिज्ञासु पर संत कृपा अथवा गुरु कृपा अपने आप होती है। गुरु कृपा होने पर फिर कुछ बाकी नहीं रह जाता। परन्तु ऐसे गुरु बहुत दुर्लभ होते हैं।

पारस से लोहा सोना बन जाता है, पर उस सोने में यह ताकत नहीं होती कि दूसरे को भी सोना बना दे। परन्तु असली गुरु मिल जाये तो उसकी कृपा से शिष्य भी गुरु बन जाता है, महात्मा बन जाता है। यह गुरु कृपा की विलक्षणता है। गुरु कृपा चार प्रकार की होती है - स्मरण से, दृष्टि से, शब्द से, स्पर्श से।

गुरु के याद करने मात्र से शिष्य को ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यह स्मरण दीक्षा है। जैसे मछली जल में अपने अण्डे को थोड़ी-थोड़ी देर में देखती रहती है तो देखने-मात्र से ही अण्डा पक जाता है। ऐसे ही गुरु की कृपा दृष्टि से शिष्य को ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यह दृष्टि दीक्षा है। इसी प्रकार शब्द से एवं स्पर्श से भी शिष्य को ज्ञान प्राप्त हो जाता है, जिन्हें क्रमशः शब्द दीक्षा तथा स्पर्श दीक्षा कहते हैं।

गुरु कृपा या संत कृपा से मनुष्य को स्वर्ग अथवा नरक नहीं मिलते, मुक्ति ही मिलती है। अपितु बनावटी गुरु से कल्याण नहीं होता। जो सच्चे संत महात्मा होते हैं, वे शिष्य पर स्वतः और स्वाभाविक कृपा करते हैं। सूर्य को कोई इष्ट मानेगा तब ही वह प्रकाश देगा, यह बात नहीं है। उसका प्रकाश तो स्वाभाविक रूप से सबके लिए है, उसको चाहे कोई भी उपयोग में ले ले। ऐसे ही गुरु की कृपा, संत महात्माओं की कृपा, स्वतः स्वाभाविक होती है। जो उनके सन्मुख हो जाता है, वह लाभ ले लेता है। संत कृपा को ग्रहण करने वाला जैसा पात्र होता है वैसा ही उसको लाभ होता है। वर्षा सब पर समान रूप से होती है पर बीज जैसा होता है, वैसा ही फल पैदा होता है।

भगवान की और संत महात्माओं की कृपा सब पर समान रूप से होती रहती है। जो चाहे जैसा लाभ उठा सकता है। सिर्फ गुरु धारण करने से लाभ नहीं होता, गुरु की बात मानने से कल्याण होता है।

राम सन्देश : जुलाई-सितम्बर, 2019।

--- स्वामी रामसुखदास

उपनिषद् की दिव्य शिक्षा

(ब्रह्मलीन आचार्य श्री अक्षयकुमार बंद्योपध्याय)

मानव चेतना स्वभावतः इन्द्रिय और मन के अनुगत होकर विश्व जगत में परिचय प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करती है। इससे मानव चेतना के क्रमशः विकासशील ज्ञान के सामने यह विश्व जगत देशकालाधीन शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंधविशिष्ट नित्य परिवर्तनशील असंख्य खण्ड पदार्थों के समिष्ट रूप में ही प्रतीत होता है। किन्तु मानव चेतना की अंतःप्रवृत्ति में जाने क्या एक प्रेरणा है, जिसके कारण विश्व जगत के इस बाहरी परिचय से वह तृप्त नहीं हो सकती। इन्द्रिय समूह और मन इस जगत का जो परिचय मानव -चैतन्य के सामने उपस्थित करते हैं, वह मानो उसका सच्चा परिचय नहीं है, उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं है - इस प्रकार की एक अनुभूति मानव चेतना को सदा-सर्वदा इस जगत का और भी निगूढ, निगूढतर और निगूढतम ज्ञान प्राप्त करने के लिए उद्दीप्त करती रहती है। जगत के इस वाह्य खण्ड-परिचय पर निर्भर करके मनुष्य कर्म और भोग में प्रवृत्त होता है, पर इस प्रकार के कर्म और भोग से उसे शान्ति नहीं मिलती। इसमें उसकी अबाध स्वाधीनता की अनुभूति नहीं है, पूर्णता का आस्वादन नहीं है। इस प्रकार के ज्ञान, कर्म और भोग में वह अपने को पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं कर पाता ; उसकी चेतना में सभी अवस्थाओं में अभावबोध, दुःखबोध और अशान्ति की ज्वाला बनी रहती है। इस अभाव, दुःख और अशान्ति को दूर करने के लिए वह उच्चतर ज्ञानभूमि, कर्मभूमि और भोगभूमि का अनुसन्धान करता है, विश्व जगत के साथ निबिडतर परिचय के लिए आग्रहशील होता है।

इन्द्रिय और मन का अनुवर्तन करके मानवचैतन्य जितना ही अग्रसर होता है, उतना ही उसे अनुभव होता है कि इस मार्ग में ज्ञान की, कर्म की और आनन्द की पूर्णता नहीं है। परन्तु इसी प्रयत्न के द्वारा चेतना का क्रमविकास होता रहता है। मानव चेतना जब पूर्णरूप से विकसित हो जाती है, सम्यकरूप से जाग्रत और प्रबुद्ध हो जाती है; तब वह अपने ज्ञान, कर्म और भोग को इन्द्रिय और मन की अधीनता से मुक्त करने के लिए प्रयास करती है, अपनी स्वरूपभूत चित ज्योति के प्रकाश से इस विश्व जगत के यथार्थ स्वरूप का साक्षात् परिचय प्राप्त करने में अपने को संलग्न कर देती है। इन्द्रिय-मनोनिरपेक्ष सम्यक प्रकार से सम्बुद्ध मानव-चेतना के अपरोक्ष ज्ञान में विश्वजगत के सारे भेद, व्यवधान और विसंवाद मिट जाते हैं। मानव चेतना की अपूर्णता की अनुभूति भी मिट जाती है, और अपने साथ जगत की एकात्मता का अनुभव करके वह अपने खण्ड, अपूर्ण और निरानन्द-भाव से मुक्त हो जाती है एवं कर्म में स्वाधीन तथा सम्भोग में आनन्दमय बन जाती है।

यह जो इन्द्रिय-मन की अधीनता से मुक्त सम्यक प्रबुद्ध मानव-चेतना है, इसी का नाम ऋषि-चेतना है। इस ऋषि-चेतना के द्वारा विश्वजगत के अन्तर्निहित तत्व के सम्बन्ध में जो अपरोक्ष अनुभूति होती है, उसी का नाम 'उपनिषद् ज्ञान' है। ऋषि-चेतना में जो सत्य प्रकाशित होता है, वही सम्पूर्ण जीव और जगत का मूलतत्व और यथार्थ रूप है। वह ऋषि-चेतना समस्त जीव (चेतन) और जड़ का अबाध मिलन-क्षेत्र है। उस ऋषि-चेतना की प्राप्ति होने पर मनुष्य के ज्ञान की स्वाधीनता की, आनन्द की और कल्याण की पूर्णता हो जाती है। मनुष्य की चेतना उस समय देश-काल की सीमा का अतिक्रमण कर, कार्यकारण-श्रृंखला के बन्धन से छूट कर राग-द्वेष-भय-भावना से ऊपर उठकर सब प्रकार के आवरण और विक्षेप से मुक्ति पाकर विश्व -जगत के यथार्थ स्वरूप को देखती है और अपने यथार्थ स्वरूप में प्रतिष्ठित होती है। ऋषिगण जब इस अनुभूति की बातें बताते हैं, उस समय इन्द्रिय-मन की श्रृंखला में बंधे हुए ज्ञानपिपासु व्यक्ति बड़े आश्चर्य से उन्हें सुनते हैं, परन्तु वे सम्यकरूप से उनकी धारणा नहीं कर सकते। इन बातों को वे अस्पष्ट भाव से ज्ञान के आदर्श रूप में अनुभव करते हैं और इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए इन्द्रिय-मन की अधीनता से छूटने की साधना करते हैं।

प्राचीन भारत में जिन असाधारण महामानव पुरुषों ने ऋषि-चेतना प्राप्त करके अतीन्द्रिय और अतिमानस ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण जीवजगत के पारमार्थिक स्वरूप को प्रत्यक्ष देखा था ; जिनकी सम्बुद्ध चेतना के सामने परम सत्य ने अनावृत और अविक्षिप्त रूप से अपने स्वरूप को प्रकट कर दिया था; उनकी दिव्य-वाणियाँ ही संकलित और संग्रथित होकर उपनिषद् ग्रन्थ के रूप में मानव समाज में प्रचारित हुई हैं। गुरु-शिष्य-परम्परा के क्रम से उन वाणियों का तत्त्वज्ञान के पिपासु, साधक-सम्प्रदाय में हुआ है। इन्हीं सब वाणियों का आश्रय लेकर ज्ञानपिपासु, आनन्दपिपासु और मुक्ति-पिपासु अगणित साधकों ने अपनी स्वाभाविक ज्ञानशक्ति, कर्मशक्ति और चित्तवृत्तियों का भलीभाँति नियंत्रण करके अपनी चेतना को इन्द्रिय-मन की अधीनता से मुक्त किया है और उस मुक्त चेतना के द्वारा उन सब दिव्य वाणियों के अनुसार अपरोक्ष अनुभव प्राप्त करके वे कृतकृत्य हुए हैं। उन साधकों के जीवन की कृतार्थता को देखकर समाज के सभी श्रेणी के नर-नारियों को उन वाणियों की सत्यता के सम्बन्ध में सन्देह रहित दृढ़ विश्वास हो गया। दार्शनिक आचार्यों ने इन्द्रिय-मन की अधीनता-रूपी शृंखला में बंधे हुए प्रत्यक्षादि सब प्रकार के लौकिक प्रमाणों और तदनुगत समस्त युक्ति-तर्कों को परमतत्त्व के प्रकाशन में असमर्थ पाकर जीव-जगत का पारमार्थिक परिचय प्रदान करने के लिए उपनिषद्-वाणी को ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण माना और इन्हीं सब वाणियों का तात्पर्य ढूँढ़ निकालने में उन्होंने प्रधानतया अपनी मनीषा और विचारशक्ति का बड़ी निपुणता के साथ प्रयोग किया। सम्बुद्ध-चेतन तत्त्वदर्शी ऋषिओं की अपरोक्षानुभूति से उत्पन्न दिव्य वाणियों को श्रद्धापूर्वक सुनकर ही जीव-जगत के यथार्थ स्वरूप का सच्चा ज्ञान प्राप्त करने के लिए मनुष्य की स्वाभाविक ज्ञान-शक्ति को नियोजित करना पड़ेगा - इसी हेतु इसको 'श्रुतिप्रमाण' कहा जाता है। भारत के सर्वश्रेष्ठ मनीषियों के द्वारा रचित और प्रसारित जितने भी स्मृति, पुराण, दर्शन, तन्त्र और महाकाव्य आदि हैं, सभी इस 'श्रुति' के द्वारा ही अनुप्राणित हैं और वे समाज के सभी स्तरों में इस 'श्रुति' की भावधारा को ही वहन कर रहे हैं।

इस प्रकार ऋषि-चेतना की प्राप्ति और अतीन्द्रिय एवं अतिमानस सत्य का अपरोक्ष साक्षात्कार केवल प्राचीन भारत के ही कुछ अनन्यसाधारण महापुरुषों को हुआ था, ऐसी बात नहीं है। सभी युगों और सभी देशों में भी पारिपार्श्विक अवस्थाओं में अनन्य सत्यपिपासुओं पुरुषों के द्वारा सत्य का अपरोक्ष साक्षात्कार सम्भव है। भारत में युगयुगान्तर से ऐसे असंख्य ऋषिओं का आभिर्भाव होता रहा है। उन सभी ने अपनी-अपनी सत्यानुभूति द्वारा उपनिषद्-वाणियों की यथार्थता का समर्थन किया है। और उसे विभिन्न भावों में, विभिन्न भाषाओं में, मानव समाज में प्रचारित किया है। सभी देशों के अपरोक्षानुभूतिसम्पन्न महापुरुषों ने ऐसा ही किया है। भारतीय संस्कृति की यह विशेषता रही है कि इस विशाल देश की बहुमुखी साधना और सभ्यता उस ऋषिचेतनालब्ध तत्वानुभूति के ऊपर प्रताष्ठित है। भारत का साहित्य और शिल्प, विज्ञान और दर्शन, कुलधर्म, जातिधर्म और समाजधर्म, राष्ट्रनीति, अर्थनीति, स्वास्थ्यनीति और व्यवहारनीति - इन सभी का निर्माण और प्रसार उपनिषद् ज्ञान को मानवजीवन के परम आदर्शरूप में मानकर ही हुआ है। उपनिषद् ही भारतीय संस्कृति के प्राणरूप हैं। इसी से भारतीय संस्कृति को 'आर्य संस्कृति' कहा जाता है। समस्त वेदों का, अर्थात् समस्त ज्ञान का, जो चरम सत्य है; वही उपनिषदों में समुज्ज्वलरूप से प्रकट हुआ है। इसी से उपनिषद् का प्रसिद्ध नाम वेदान्त (वेद या ज्ञान का अन्त अथवा शिरोभाग) है एवं वेदान्त ही सब प्रकार की भारतीय साधनाओं की भित्ति है। इसी से जगत में भारतीय वेदान्ती जाति के नाम से प्रसिद्ध हैं।

रागद्वेषशून्य, हिंसा-घृणा-भय-विरहित, देहेन्द्रियमन की अधीनता से मुक्त, जात्यभिमान-सम्प्रदायभिमान प्रभृति संकीर्णताओं से अतीत, शुद्धहृदय, शुद्धबुद्धि, समाहितचित्त ऋषियों की भ्रमप्रमादादिशून्य दिव्य सत्यानुभूति को केन्द्र बनाकर ही भारतीय संस्कृति और सभ्यता युग-युगान्तरों में निर्मित हुई है; यही भारतीय संस्कृति और सभ्यता का प्रधान

गौरव है। सहस्रों वर्षों से लगातार यह औपनिषद ज्ञान भारतीय साधना के क्षेत्र में समस्त नरनारियों के अशेषविचित्रतामय जीवन में सब प्रकार के जागतिक ज्ञान, लौकिक कर्म और हृदयगत भावप्रवाह को आश्चर्यजनक रूप से अनुप्राणित करता आ रहा है। सभी पर इसका अक्षुण्ण शासन है। यहाँ तक कि इस देश के रागद्वेषादियुक्त देहेन्द्रिय-मन-बुद्धि-हृदय पर भी औपनिषद आदर्श का असीम प्रभाव है। भारतीय जीवन के सभी विभागों में उपनिषद चिरंजीवी हैं। ज्ञान या अनजान में प्रत्येक नर-नारी के जीवन पर इसका अचिन्त्य प्रभाव है। भारत का सम्पूर्ण वातावरण ही उपनिषद के ज्ञानादर्श के द्वारा संजीवित है।

सभी युगों की सम्यक प्रबुद्ध ऋषीचेतना में विश्वजगत का यथार्थ स्वरूप प्रतिभात होता है और इन कतिपय उपनिषद ग्रंथों में वाणी रूप में वही स्वरूप प्रकट हुआ है, इस सम्बन्ध में किञ्चित् आभास इस लेख के द्वारा मिल सकता है।

प्रथमतः हमारे इन्द्रिय-मन के द्वारा उपलब्ध ज्ञान इस विश्व जगत को अनन्त विषमताओं से पूर्ण देख पाया है। उसने समझा है कि विभिन्न स्वभाव-युक्त असंख्य पदार्थों के संघर्ष और समन्वय से ही इस जगत का संगठन हुआ है। इसमें इतने भेद हैं, इतने द्वन्द हैं, इतने कार्यकारणसम्बन्ध और इतनी नियमश्रृंखलायें हैं कि जिनका कहीं भी कोई अन्त नहीं मिलता; परन्तु ऋषियों की अतीन्द्रिय और अतिमानस विशुद्ध चेतना को दिखाई देता है कि यह विश्व जगत मूलतः या तत्त्वतः एक है, एक ही अखण्ड सत्ता विभिन्न सत्ताओं के रूप में इन्द्रिय-मन के सम्मुख प्रतीत होती है - इन्द्रियमनोगोचर जितने भी विभिन्न पदार्थ हैं, सब एक अद्वितीय नित्य-सत्य निर्विकार तत्त्व के ही विभिन्न रूपों और विभिन्न नामों में आत्म-प्रकाश हैं, एक ही से सबका प्राकट्य है, एक के ही आश्रय से सबकी स्थिति है, एक की सत्ता से ही सब नियंत्रित हैं और परिणाम में सब एक ही में विलीन हो जाते हैं, एक के अतिरिक्त दूसरा कोई स्वतंत्र पदार्थ है ही नहीं। इस प्रकार वे स्थावर-जंगम सभी पदार्थों में नित्य सत्य एक अद्वितीय वस्तु-तत्त्व को देखते हैं। उनकी चेतना से भेदज्ञान सर्वथा दूर हो जाता है। एक ही बहु का-अनन्त का, यथार्थ स्वरूप है; यह उपनिषद का प्रथम सत्य है।

द्वितीयतः हमारे ज्ञान में जीव और जड़ का - चेतन और अचेतन का - भेद है। हम कभी इसका अतिक्रमण नहीं कर सकते। पर ऋषियों का अनुभव है कि यह विश्वजगत तत्त्वतः चैतन्यमय है। जिस एक अद्वितीय सदवस्तु की सत्ता से विश्वजगत सत्तावान है, वही सदवस्तु चित्स्वरूप है - स्वयंप्रकाश है। दूसरे के प्रकाश से जिसका प्रकाश हो, दूसरे के सम्बन्ध से ही जिसका परिचय हो और दूसरे के ज्ञान में प्रतिभात होने से ही जिसकी सत्ता हो, उसी को 'जड़' कहते हैं। चेतन के आश्रय और सत्ता से ही जड़ का प्रकाश और सत्ता है। समस्त विश्वजगत के मूल में जो एक वस्तु है, जिसका दूसरा कोई न आश्रय है, न प्रकाशक है, अपनी सत्ता से ही जिसकी सत्ता है, अपने प्रकाश से ही जिसका प्रकाश है, जो अपने को ही अपना अनन्त विभिन्नतामय विश्वजगत के रूप में परिचय दे रहा है, वह अद्वितीय तत्त्व निश्चय ही स्वप्रकाश चैतन्यमय है। ऋषि-चेतना सम्पूर्ण जड़ में उस एक चैतन्यस्वरूप को ही देखती है। ऋषिगण एक अद्वितीय नित्य चैतन्यमय सदवस्तु को ही इन्द्रियमन के सम्मुख विभिन्न जीवों और जड़ पदार्थों के रूप में - चेतना-चेतन अनन्त विचित्र वस्तुओं के रूप में लीला करते देखते हैं। चेतन ही जड़ का यथार्थ स्वरूप है, वही उपनिषद का द्वितीय सत्य है।

तृतीयतः, हमारे साधारण ज्ञान में भी सभी विषय ससीम, सादि (आदिवान) और सांत (अन्तवान) हैं। इन्द्रिय-मन के पाश में बंधी हुई हमारी चेतना के सम्मुख असीम, अनादि और अनन्त कभी वास्तविक सत्य के रूप में प्रतीत होता ही नहीं। अपनी ज्ञानलब्ध ससीमता, सादित्व और सांततत्व का निषेध करके हम असीमत्व, अनादित्व और अनन्तत्व की

एक अभावात्मक कल्पना किया करते हैं। इस कल्पित असीम, अनादि और अनन्त में और वास्तविक ससीम, सादि और सांत में एक भारी भेद है, इस कल्पना का भी हम अतिक्रमण नहीं कर पाते। अगणित देशकाल-परिच्छिन्न ससीम, सादि और सांत पदार्थों की समिष्ट कल्पना करने पर हमारे लिए देशकालातीत असीम, अनादि और अनन्त की धारणा करना सम्भव नहीं होता। ऋषिचेतना की अतीन्द्रिय अतिमानस अनुभूति में साधारण ज्ञान की यह असमर्थता नहीं रहती। इस चेतना में देशकालातीत असीम अनादि अनन्त एक अद्वितीय अपरिणामी तत्व समुज्ज्वल रूप में प्रकट रहता है - अभाव रूप में नहीं, भावरूप में ज्ञानगोचर वास्तव को निषेध करके नहीं, वास्तव समूह को कल्पना से समिष्टबद्ध करके भी नहीं, सर्वव्यापी, सब में अनुस्यूत, सभी भावों में लीलायमान, सर्वान्तरात्मा एक अखण्ड स्वप्रकाश वास्तवतम सत्य के रूप में असीम ही समस्त ससीम का पारमार्थिक तत्व है, अनादि-अनन्त ही सम्पूर्ण सादि-सांत का तात्विक स्वरूप है, देशकालातीत परिणामी निर्विकार एक अखण्ड चैतन्यमय परमात्मा ही देशकालाधीन परिणामी उत्पत्ति-स्थिति-विनाशशील प्रत्येक खंड पदार्थमात्र के अन्दर विभिन्न विचित्र रूप में लीला कर रहा है - इस अपरोक्ष अनुभूति, अर्थात् प्रत्यक्ष दर्शन से ऋषिचेतना भरपूर हो जाती है। उन्हें ससीममात्र में एक असीम, सादिमात्र में एक अनादि, सान्तमात्र में एक अनन्त, परिमाण और विकारमात्र में एक नित्यसत्य, अपूर्णमात्र में एक नित्यपूर्ण सर्वत्र, सर्वदा चमकता हुआ दिखाई देता है। ससीम और असीम का भेद, सादि और अनादि का भेद, सांत और अनन्त का भेद, इस दिव्य ज्ञान में - औपनिषद ज्ञान में, मानो मिथ्या हो जाता है, वह ज्ञान के निम्नस्तर में - इन्द्रिय और मन के स्तर में ही पड़ा रह जाता है। देशकालातीत और देशकालाधीन, असीम, अनन्त एवं ससीम सांत, नित्य और अनित्य का यह पारमार्थिक ऐक्यदर्शन ही उपनिषद का तृतीय सत्य है।

चतुर्थतः हमारा इन्द्रिय मनोगोचर साधारण ज्ञान आत्मा और अनात्मा के भेद को - अहं और अन्य के भेद को, व्यक्ति और विश्व के भेद को - ज्ञाता और भोक्ता, एवं ज्ञेय और भोग्य जगत के भेद को तथा विभिन्न व्यक्तियों के पारस्परिक भेद को कभी अतिक्रमण नहीं करता; परन्तु ऋषिचेतना अपनी आत्मा में और अन्य समस्त मनुष्य तथा प्राणिमात्र की आत्मा में एवं समस्त विश्वजगत की आत्मा में, पारमार्थिक एकत्व की उपलब्धि करती है। वह अपने को सभी मनुष्य, सभी प्राणी और समस्त विश्वप्रपंच को अपने में देखती है। एक आत्मा ही विभिन्न स्थावर-जंगम शरीर में, विभिन्न नाम-रूपों में, विभिन्न आकृति-प्रकृति में प्रतिभात हो रही है। प्रबुद्ध ऋषिचेतना इस सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव करती है। अतएव इस चेतना में अभिमान और ममता, राग और द्वेष, शत्रु-मित्र का भेदबोध, अपने-पराये का भेदभाव, हिंसा-घृणा-भय और विषय-विशेष के प्रति कामनाप्रभृति कुछ भी नहीं रह सकते। इस अनुभूति के फलस्वरूप सबके प्रति अहेतुक प्रेम और सबके प्रति आत्मबोध स्वभावसिद्ध हो जाता है, यह विश्वात्मभाव और सर्वात्मभाव उपनिषद का चतुर्थ सत्य है।

जिस किसी देश में, जिस किसी काल में, जिस किसी पारिपाश्विक अवस्था में, जो कोई भी व्यक्ति राग-द्वेष-कुसंस्कार आदि से रहित होकर उपयुक्त साधना के द्वारा इन्द्रिय-मन की अधीनता से अपने को छुड़ा लेता है, उसी की विशुद्ध चेतना के सम्मुख विश्वजगत का और अपना यह पारमार्थिक सत्य स्वरूप प्रकट हो जाता है। यह सत्य ही सनातन सत्य है और इस सत्यदृष्टि का अनुवर्तन करने के लिए मनुष्य के व्यष्टि जीवन और समिष्टि जीवन को भीतर और बाहर से जिस प्रणाली के अनुसार सुनियंत्रित होना चाहिए, उस प्रणाली का नाम ही सनातन धर्म है। सनातन धर्म विश्वजनीन है, विश्वमानव का धर्म है - विश्व के सभी श्रेणी के नरनारियों को सत्यदृष्टि में प्रतिष्ठित कराने वाला धर्म है। यह विश्वजनीन सनातन सत्य और सनातन धर्म ही विभिन्न सम्यक सम्बुद्ध ऋषियों के मुखों से विभिन्न छन्दों-

विचित्र कवित्वपूर्ण गम्भीरार्थव्यञ्जक भाषा के द्वारा उपनिषद ग्रंथों में प्रकाशित है ; इन्द्रिय-मन-श्रृंखलित बुद्धि के ऊर्ध्व स्तर में विशुद्ध चेतना की तत्वानुभूति को इन्द्रिय-मन-बुद्धि के स्तर की भाषा में व्यक्त किया गया है। जो सत्यपिपासु लोग इन उपनिषद वाणियों के गूढ़ तात्पर्य के अनुसन्धान पथ पर चलना चाहते हैं, उन्हें अपनी चेतना को इन्द्रिय-मन-बुद्धि के स्तर से ऊपर ले जाने की चेष्टा करनी पड़ेगी और ऊपर ले जाकर ही इन वाणियों के यथार्थ तात्पर्य को समझना होगा। केवल शाब्दिक अर्थ एवं युक्तितर्कों के बल पर ही उपनिषद की वाणियों के तात्पर्य को कभी हृदयंगम नहीं किया जा सकता।

सम्यक प्रबुद्ध ऋषि-चेतना में प्रतिभात चरम सत्य को ही उपनिषदों के ऋषियों ने 'ब्रह्म' कहा है। 'ब्रह्म' शब्द का शाब्दिक अर्थ है - ' बृहत्तम ' (बहुत बड़ा), जिससे बृहत्तर की कोई कल्पना ही नहीं हो सकती। देशगत, कालगत, गुणगत, शक्तिगत, सत्तागत और अवस्थागत किसी भी प्रकार की सीमा, परधि या शेष की, जिसके सम्बन्ध में कोई कल्पना नहीं की जा सकती। पाश्चात्य दर्शन में जिसको **Infinite, Eternal, Absolute** कहा जाता है, उसी का नाम 'ब्रह्म' है। 'ब्रह्म' मानव की बौद्ध चेतना (**intellectusl consciousness**) का चरम आदर्श है, समस्त दार्शनिक ज्ञान (**philosophical knowledge**) का चरम अनुसन्धेय है। जब तक इस ब्रह्म को ज्ञानगोचर नहीं कर लिया जाता, तब तक बुद्धि कभी तृप्त नहीं हो सकती; दार्शनिक विद्या का अनुशीलन कभी चरम सिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता। तथापि बुद्धि **intellect** स्वभावतः ही ब्रह्म का कभी साक्षात्कार नहीं कर सकती, दार्शनिक युक्तितर्क निःसंदिग्ध रूप से कभी भी इस ब्रह्म को ज्ञान में प्रतिष्ठित नहीं कर सकते। परन्तु मानव चेतना में यह सामर्थ्य है, वह युक्तितर्क के अतीत, बुद्धि के अतीत, पारमार्थिक ज्ञानभूमिका में उपनीत होकर ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकती है। उस इन्द्रिय-मन-बुद्धि से अतीत ज्ञानभूमि की अनुभूति का, उस ब्रह्मोपलब्धि की भाषामयी मूर्ति का उपनिषदों की वाणी में संग्रह किया गया है।

उपनिषदों के ऋषियों ने यह उपलब्ध किया है कि 'ब्रह्म' केवल बुद्धि का एक अनाधिगम्य चरम आदर्श नहीं है। अवांगमनसगोचर अज्ञेय; किन्तु आकांक्षणीय तत्वमात्र ही नहीं है; ब्रह्म प्रत्यक्ष सत्य है। इन्द्रिय-मनोबुद्धिगोचर विश्वजगत और तदंगीभूत समस्त चेतनाचेतन पदार्थों का (यत किञ्च जगत्यां जगतः) एक मात्र यथार्थ स्वरूप ही है - ब्रह्मा। ऋषियों ने प्रत्यक्ष अनुभव के बल से बलवान होकर ही दृढ़ता के साथ यह घोषणा की सर्वं खल्विदं ब्रह्म । विश्व निवासी नरनारी मात्र को चे स्वर से पुकारकर उपनिषदों के ऋषियों ने कहा- " शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा, आ ये धामा निदिब्यानितस्थुः " देखो, तुम जिस जगत में निवास करते हो, उसका यथार्थ स्वरूप देखो।

ब्रह्मै वेदममृतं पुरस्तात् ब्रह्म पश्चात् ब्रह्म दक्षिण तश्चोतरेण ।

अश्रुचोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम ॥

(मुण्डका २।२।११)

अमृतस्वरूप (मृत्युरहित, विकाररहित, दुःखदैन्यरहित, नित्य, सत्य, परमानन्दधन) ब्रह्म ही इस विश्व के रूप में लीला करता हुआ हमारे आगे, पीछे, दाहिने, बाँये, ऊपर-नीचे सर्वत्र प्रसारित हो रहा है। ब्रह्म ही इस विश्व का यथार्थ स्वरूप है और ब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ वरणीय (जीवन का आराध्यतम, आकांक्षणीयतम सत्य) है। समस्त विश्व में ब्रह्मस्वरूप की साक्षात् उपलब्धि करने मानवजीवन परम् कल्याण में प्रतिष्ठित होता है।

ऋषि जब अपनी ओर देखते हैं, तब अनुभव करते हैं - 'अहं ब्रह्मास्मि ' (मैं ब्रह्म हूँ) अर्थात् मैं देशकालावस्थापरिच्छिन्न एक जीव मात्र नहीं हूँ, मैं तत्त्वतः ब्रह्म हूँ, मेरी चित्सत्ता विश्वव्यापी है, सभी मनुष्यों में, सभी जीवों और जड़ पदार्थों की सत्ता मेरी सत्ता के साथ नित्य एकीभूत है। मेरा भागीदार कोई नहीं है, मुझसे बड़ा या छोटा कोई नहीं है, सभी मेरी सत्ता की कुक्षि में हैं, कोई सुख-दुःख, जय-पराजय और अभाव-अभियोग मेरा स्पर्श नहीं कर सकता। मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्त-स्वभाव हूँ। सम्यक्सम्बुद्ध-चेतन उपनिषदनुभूतिसम्पन्न महामानव समस्त विश्वजगत के साथ अपनी चैतन्यमयी एकता का अनुभव करके आत्मा के परम् गौरव की प्रतिष्ठा करता है। उपनिषद ने मानवात्मा की इस गौरव वाणी का समस्त विश्व के मानवों में प्रचार किया है।

ऋषियों ने जैसे अपने को ब्रह्मस्वरूप अनुभव किया, वैसे ही सभी मनुष्यों और सभी जीवों में ब्रह्म का दर्शन करके प्रत्येक को प्रकट रूप से उन्होंने यही कहा - 'तत्त्वमसि ' (तुम वही ब्रह्म हो) उन्होंने मानवमात्र के चित्त में ब्रह्मचेतना को जाग्रत करने का प्रयास किया। ब्रह्म चेतना के जाग्रत होने पर मनुष्य में परस्पर भेद-विसंवाद नहीं रख सकता। सभी शरीरों में एक ही आत्मा की अनुभूति होने पर मन, बुद्धि, हृदय अभेदज्ञान एवं प्रेम से भर जाते हैं। जातिभेद, सम्प्रदायभेद, उच्चनीचभेद। हेयोपादेयभेद सभी मन से मिट जाते हैं। समस्त विश्व ब्रह्मधाम , सच्चिदानन्दधाम, सौन्दर्य-माधुर्य सिन्धु बनकर आस्वादय हो जाता है। उपनिषद विश्व के सभी नरनारियों का ब्रह्मभाव से भवित प्रेमानन्दमय ब्रह्मधाम के निवासी होने के लिए आह्वान कर रहे हैं।

प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक जीव, प्रत्येक पदार्थ और भूत -भविष्य-वर्तमान के सभी मनुष्य, सभी प्राणी, सभी पदार्थों के समिष्ट-भूत विश्वजगत के यथार्थ तात्त्विक स्वरूप को उपनिषदों ने जैसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं "(सत्य, ज्ञान और अनन्त) बतलाया है, वैसे ही उसे रसमय मानकर आस्वादन किया है - रसो वै सः ब्रह्म - ब्रह्म रसस्वरूप है, परमास्वादयस्वरूप है - परम्-सौन्दर्यमाधुर्यनिकेतन है। यह रसस्वरूप ब्रह्म ही वैचित्र्य मय जगत में विभिन्न रूपों में प्रकट होकर अनादि अनन्तकाल से आत्मरमण, आत्मविलास, आत्मरसास्वादन कर रहा है। विश्वजगत में सर्वत्र ही रस का विलास है, सर्वत्र ही आनन्द क्रीड़ा है। विश्व में जितने भी संघर्ष, जीवन संग्राम, घात-प्रतिघात और आपातवीभत्सतामय युद्ध-विग्रह होते हैं उन सब में भी एक अनन्त चैतन्यधन रसस्वरूप ब्रह्म का ही विचित्र रसविलास चलता है - उसी का रसप्रवाह बहता है। उपनिषद की दृष्टि में सभी रसमय हैं, सभी सुन्दर हैं, सभी आस्वादय हैं। आनन्दरूप में, विज्ञानरूप में, मनरूप में, प्राणरूप में, अन्न या भोग्य जड़पदार्थ रूप में भी एक रसामृतसिन्धु ब्रह्म की ही आत्माभिव्यक्ति और आत्मास्वादन हो रहा है। (आनन्दं ब्रह्म विज्ञानं ब्रह्म' मनो ब्रह्म ' 'प्राणो ब्रह्म ' 'अन्नं ब्रह्म ') सम्बुद्ध मानवचेतना की अनुभूति में समस्त विश्वजगत ही प्रेम और आनन्द के सहित आस्वादय है।

000000

राम सन्देश - मई, 1967।

एक महात्मा के वचन

(1) अपने मन से यह बात निकाल दो कि संसार में रहते हुए तुम ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकते हो। ईश्वर, जिसको तुम खोजना चाहते हो, वह सब चराचर में निवास करता है। अगर तुम इस सच्चाई से विमुख होते हो और संसार का त्याग करते हो तो तुम ईश्वर से भी विमुख होते हो।

वास्तव में करना यह चाहिए कि अपने प्रत्येक काम को ईश्वरीय बनाओ। वह प्रभु जो सबका मालिक है और सब में छाया हुआ है उसके तर्क अपने आप और अपनी दुनियाँ को अर्पण कर दो। इस बात को भली भाँति समझ लो कि जो भी कर्म तुम करते हो वे सब उसी मालिक की शक्ति के द्वारा होते हैं और वह शक्ति केवल मालिक की मौज से संचालित है। यह विश्वास रखो कि तुम उस मालिक के हाथ में एक औज़ार हो और उसने तुम्हें उसी काम के लिए बनाया है जो तुम यहाँ कर रहे हो।

(2) सब झगड़ों और बखेड़ों की जड़ तुम्हारे मन के भीतर है। बाहर कोई बुराई नहीं है। इसलिए अपने मन को वश में करो।

(3) निरन्तर ईश्वर का नाम लेते रहो और उसी का ध्यान करो। तब वे लोग जो तुम्हारे साथ बुराई करते हैं और तुम्हें दुःख पहुँचाना चाहते हैं, सब तुम्हारे अनुकूल हो जायेंगे। यदि तुम्हारा मन शुद्ध है तो तुम्हें कोई नफ़रत नहीं करेगा। अपने आस-पास के लोगों से झगड़ने के बजाय अपने मन से लड़ो। इसका सबसे सरल उपाय यह है कि रामनाम का हथियार लो और तुम्हारी जीत ही जीत है।

(4) अनानियत या अहंकार बड़ी मुश्किल से फ़तह होता है। हमारी सारी कोशिश और जदोजहद इसीलिए है कि यह दूर हो जाए लेकिन अपने किये कुछ नहीं होता। एक ही रास्ता है - समर्पण। उस परमेश्वर की कृपा ही हमारी सारी मुश्किलों को आसान कर सकती है। जब हमारी कोशिशें बेकार हो जाती हैं तो हम दुखी होते हैं और ईश्वर को बुराई देने लगते हैं। ऐसा बर्ताव करने के बजाय यह अच्छा है कि अपने आपको दीन बनायें, खाक में मिला दें। उसका नाम निरन्तर हमारे मुँह पर हो और हम यह अनुभव करें कि जो कुछ हो रहा है उसकी मौज से हो रहा है, वही कर रहा है। वास्तव में जो कुछ होता है, उसी की मर्जी से होता है। उसकी शरण ग्रहण करो। उसी को अपना सर्वस्व समझो। अपना सब कुछ उस पर न्यौछावर कर दो और वह अपने आपको तुम्हारे अन्दर प्रगट कर देगा, तुम्हारे रोम रोम में प्रकाश, शान्ति और आनन्द बन कर छा जायेगा।

(5) प्रभु की सेवा के बहुत से तरीके हैं। अपनी विद्या, तन, मन, और धन उसके चरणों में अर्पण कर सकते हो। सब चराचर में वह समाया हुआ है। जब कभी मौका मिले, दीन-दुखियों की सेवा करो, बीमार और असहायों की मदद करो, और दीनता और प्रेम के साथ करो। तब वास्तव में तुम ईश्वर की सेवा करोगे। कभी मत सोचो कि तुम बड़े आदमी हो और तुम इतने फ़राख-दिल हो कि दूसरों की मदद कर सकते हो। ऐसा विचार तुम्हें बचा नहीं सकेगा। इसके विपरीत, जब कभी ऐसी सेवा का अवसर मिले तो अपने आप को सराहो और प्रभु को धन्यवाद दो कि उसने तुम्हें सेवा करने का अवसर दिया।

(6) जो मनुष्य मन, वचन और कर्म से शुद्ध है वह वास्तव में सुखी कहलाने योग्य है, और जो अशुद्ध है वह दुखी है। हम शुद्ध कैसे बनें ? केवल ईश्वर का निरन्तर चिन्तन करने से। जो जैसा सोचता है वह वैसा ही बन जाता है। ईश्वर का चिन्तन करो, तुम भी ईश्वर रूप हो जाओगे। संसार और उसकी वस्तुओं का चिन्तन करोगे, सन्सारी बने रह जाओगे। इसलिए सदा ईश्वर का ही चिन्तन करो। वही सच्चाई है, वही शान्ति है और वही सच्चा आनन्द है।

(7) सब कुछ उसके सुपर्द कर दो और उसका कोई एक गुण दृढ़ता से अपना लो। आहिस्ता-आहिस्ता उसके सब गुण तुम्हारे अन्दर आ जायेंगे। दुःख-सुख से ऊपर हो जाओ। हर हालत में खुश रहो। मालिक परमानन्द है। वह सबों का पालन-पोषण करता हुआ हमेशा आनन्दित रहता है। तुम भी सब कर्म करते हुए खुश रहो। उसके सब गुण तुममें समा जायेंगे।

(8) जिन्होंने ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है वे उजले दर्पण के समान हैं। उनका भीतर और बाहर समान रूप से पवित्र है, निस्वार्थ है। हम अपने मन के रूप का उनमें प्रतिविम्ब देखते हैं। जैसा हमारा मन और मौलिक व्यवहार है वैसा ही हम उनको भी समझते हैं। यदि हमारे मन में उनके प्रति श्रद्धा और आदर है तो हम उन्हें एक सच्चा महात्मा समझते हैं, किन्तु जब हमारा मन विकार-युक्त और कलुषित होता है तो हम उन्हीं महात्मा में सैकड़ों झूठ और बुराइयाँ देखते हैं। किसी दर्पण में यदि कोई मुस्करा कर देखे तो उसे अपना मुखड़ा सुन्दर दिखाई देता है और यदि क्रोधपूर्ण दृष्टि से त्योंरी चढ़ा कर देखे तो उसे अपना प्रतिविम्ब एक क्रोधी और बुरे आदमी का सा दृष्टिगोचर होता है। नुक्स दर्पण में नहीं है, देखने वाले में है। महापुरुष अथवा सन्त-जन दर्पण की तरह होते हैं जिनके सामने जाने पर मनुष्य को अपने गुण, अवगुण दिखाई देते हैं।

(9) यदि तुम एक सच्चे जिज्ञासु बनना चाहते हो तो जब जब अहंकार जाग्रत हो, उसका सिर कुचल दो। लौकिक व्यवहार में अपने आपको दूसरों पर हावी मत होने दो। अपने ऊपर नियंत्रण रखो और अपने मन की निचली वृत्तियों को काबू में करो। अपने मन के स्वामी बनो और अपने चारों ओर के लोगों के सेवक बनो। अहंकार बड़ा छलिया है। यह तभी पीछा छोड़ेगा जब तुम्हारा मन ईश्वर की दिव्य ज्योति से ठसाठस भर जावेगा। जब हृदय में ईश्वर का प्रतिष्ठान हो जाता है तो अहंकार के लिए स्थान नहीं रहता।

(10) दीन बनो, तब महान बनोगे। दीनता सबसे बड़ा गुण है। सदा ईश्वर को अपना स्वामी समझो। वह तुम्हारे अन्दर है। तुम्हारे शरीर और मन का प्रत्येक अंग उसकी इच्छा के आगे झुक जाये। तुम्हारे हाथ-पाँव जो कर्म करें, समझो उसी की इच्छा से कर रहे हैं। मुख से जो कुछ बोलो तो समझो कि तुम्हारे द्वारा वही बोल रहा है, और जो कुछ भी सोचो, सब उसकी मर्जी से सोचो। उसकी महान शक्ति तुम्हारे चारों ओर छाई हुई है, उसका अनुभव करो। तब तुम्हें ईश्वर अपनायेगा और तुम धन्य हो जाओगे।

000000

राम सन्देश - जुलाई, 1971

एकाग्रता

एकाग्रता को ही साधना में concentration कहा गया है। चित्तवृत्तियों का निरोध तथा मन को किसी एक पर केंद्रित करना एकाग्रता है। बहिर्मुखी मन को अन्तर्मुखी बनाना है। अनेक से एक पर आना है। इसके लिए तीन साधन संतों ने बताये हैं। प्रकाश का ध्यान, शब्द का श्रवण तथा गुरु-रूप का ध्यान। जिसे जो सहज और सुगम भाता है, उसे पकड़

लेता है। मन इन तीनों में से जब किसी एक पर एकाग्र होने लगेगा तो उसका रास्ता खुलता जायेगा। अधिकार भेद से संत सद्गुरु किसी को हृदय चक्र पर तथा किसी को आज्ञा चक्र पर मन को एकाग्र करने की क्रिया बताते हैं। अतः वर्तमान सद्गुरु से पूछ कर इसे प्रारम्भ करना चाहिए।

प्रकाश का ध्यान सुनने में आसान है। किन्तु एक बात सामने आती है कि किस प्रकाश का ध्यान किया जाय ? उसका स्वरूप क्या है? जो असली प्रकाश है वह तो अन्तर में ही हो रहा है। किन्तु मन के आवरणों के कारण दीख नहीं पड़ता। इसलिए पहले कल्पित प्रकाश का ध्यान किया जाता है। भिन्न भिन्न लोग अपनी कल्पना के अनुरूप प्रकाश के भिन्न-भिन्न स्वरूप का ध्यान करते होंगे। उस निर्गुण परमात्मा का यह प्रकाश एक सगुण रूप माना गया है। अतः सुगमता के लिए इसका ध्यान बताया गया है। लेकिन अपनी कल्पना के अनुरूप ही पहले हम प्रकाश का ध्यान करते हैं और अन्त में असली प्रकाश खुलता है।

दूसरा है - शब्द का श्रवण। यह भी प्रकाश की तरह है। परमात्मा को प्रकाश रूप और शब्द रूप कहा गया है, इसीलिए प्रकाश और शब्द पर मन को एकाग्र करने को संतों ने बताया है। प्रकाश परमात्मा का रूप है और शब्द उसका गुण है। रूप और गुण के माध्यम से ही हम किसी को पहचान पाते हैं। अतः परमात्मा को भी उसके गुण और रूप के माध्यम से पहचानने की कोशिश करते हैं। शब्द अन्तर में सदा होता रहता है क्योंकि यह परमात्मा का गुण है। किन्तु हम सब जगत प्राणियों को जो नाना वासनाओं में फंसे हैं, वह असल शब्द सुनाई नहीं पड़ता। हम ख्याली शब्द हृदय चक्र अथवा आज्ञा चक्र पर सुनने की कोशिश करते हैं। साधन के प्रभाव से जब मन एकाग्र होने लगता है तो अन्त में असली शब्द जो घट के भीतर स्वयं हो रहा है और परमात्मा का जो गुण रूप है, सुनाई पड़ने लगता है। इसे ही संतों ने 'अनहद-नाद' कहा है। यह प्रतिपल होता रहता है। अतः इसे 'अजपा जाप' भी कहते हैं। साधकों को अभ्यास के द्वारा उसे पकड़ लेना चाहिए और सोते-जागते हर समय उसे सुनते रहना चाहिए। इससे मन शान्त होता है और बहिर्मुखी वासनाओं से हटकर उस पर एकाग्र चित्त बना रहता है। शब्द यदि खुल जाय तो यह सीधी सड़क है जो लक्ष्य की ओर साधक को स्वयं खींचकर ले जाएगी। इसमें भी एक रहस्य है। ॐ , ॐ , राम, अल्लाह , ॐ नमो नारायण, राधास्वामी आदि अनेक नाम हैं। भिन्न-भिन्न संतों ने भिन्न-भिन्न नाम पकड़ा है। इसलिए साधक को भी कभी भी अपने मन से कोई नाम स्मरण नहीं करना चाहिए। उससे लाभ तो होगा किन्तु उतना नहीं जितना यदि वह किसी गुरु के द्वारा बताये जाने पर नाम या शब्द धारण करता है। गुरु जब किसी नाम या शब्द के जाप को बताता है तो उसमें वह अपनी शक्ति भर देता है। वह शब्द शक्ति-कृत हो जाता है और उसका प्रभाव साधक पर बहुत पड़ता है। श्री गुरुदेव (परमसन्त महात्मा डॉ। श्रीकृष्ण लाल जी महाराज) ने एक सत्संगी भाई को किसी पत्र में आदेश दिया था कि जो जो नए भाई आवें उन्हें प्रकाश का ध्यान और ॐ शब्द का जाप बता दो। अब यदि कोई भाई कहीं पढ़कर उसे शुरू कर दें तो आशातीत लाभ नहीं हो सकता। साधक को चाहिए कि सीधे गुरु से सम्पर्क स्थापित करे। वह जब तक गुरु-दर्शन नहीं पाता तब तक गुरु द्वारा नियुक्त अधिकारी लोगों की बातें भी गुरु की बातें होंगी क्योंकि वह गुरु का आदेश है। अतः गुरु की शक्ति उसमें काम कर रही है। वह किसी की अपनी बात नहीं है। पुनः गुरु दर्शन कर उसका पुष्टिकरण स्वयं गुरु से ही करलो। हाँ, यदि अधिकारी लोगों से भी मिलना न हो पाए तो पुस्तक या पत्रिका की बातों को हृदय में उतारने की कोशिश करें, किन्तु साधक के लिए खतरे का विषय हो जाता है कि वह अपनी स्वतंत्रता में कई पत्रिकाओं या पुस्तकों को पढ़ता है, उनमें कुछ भिन्नता होती है। सभी संत एक ही शब्द को नहीं कहते। अपने अपने गुरु के आदेश या अनुभव को साधक के सामने रखते हैं। ऐसे में कच्चे हृदय का साधक संशय ग्रस्त हो जाता है कि सभी ग्रन्थ या पत्रिकाएँ तो संतों की लिखी हुई हैं, या साधकों की

लिखी हुई हैं, हम किसका अनुसरण करें। जब उन लोगों में आपस में ही विरोध है, अर्थात् सभी संत या साधक एक मत नहीं हैं, तो उनमें पूर्णता कहाँ आ पाई ? अतः उन सबकी बात भी अधूरी है। यह शैतान का धोखा है। मन कभी भी साधन में एकाग्र होने नहीं देना चाहता। यह तो साधक का धर्म है कि वह मन को एकाग्र करे। साधक के मन में सदा युद्ध चलता रहता है। यदि साधक जागरूक और सजग नहीं है तो सदा मन की चपेट में रहता है और अपने मूल लक्ष्य को भूल जाता है।

इसलिए साधक या जिज्ञासु को चाहिए कि वह किसी एक विचारधारा को पकड़े। किसी एक संत या सम्प्रदाय की पत्रिका या पुस्तक पढ़े। उसके अनुरूप चले क्योंकि सभी संतों और सम्प्रदायों की बातें सही हैं। इस positive (सकारात्मक) विचार को हृदयङ्गम करे। negative (नकारात्मक) विचार को लेकर चलने वाला व्यक्ति जीवन के हर कदम तथा हर क्षेत्र में निराश तथा असफल बना रहता है। सदा positive thinking (सकारात्मक सोच) होना चाहिए। Positive विचार से मतलब आशावादी बनाना है। हर चीज़ में विश्वास रखना है। नदी पार होनी है तो किसी एक नाव पर बैठकर ही पार हो सकते हैं। सामने हज़ारों नौकाएं लगी हैं। सभी पार होने वाली हैं। इस पर संशय करोगे तो तट पर ही खड़ा रह जाना पड़ेगा। शायद यह नाव अच्छी नहीं है, इससे पार नहीं हो सकता, ऐसा सोचने वाला प्राणी कायर है। अपने में विश्वास नहीं है तो कम से कम मल्लाह के विश्वास पर तो नौका में बैठो। वह चिल्ला-चिल्ला कर कहता है - 'मैं पार कर दूँगा।' उसके अदम्य उत्साह और विश्वास पर भरोसा रखो। उसका विश्वास तुम्हारे अन्दर भी भर जायेगा। अतः नए साधक या जिज्ञासु के लिए यह आवश्यक है कि वह पहले किसी एक विचारधारा को ग्रहण करे।

यह तो कहा ही जा चुका है कि जीव पुस्तकों या पत्रिकाओं तक ही सिमित न रहे। वह उसके आचार्य गुरु से पूछ कर सीधा सम्पर्क स्थापित करे। लेकिन किसी एक संत को पकड़े। उसकी वाणी को ईश्वर-वाक्य समझे और उस पर विश्वास और भरोसा रख आगे बढ़े। उसकी मन्ज़िल उसे आगे दीख पड़ेगी। जब तक मन्ज़िल सामने नहीं दीख पड़ेगी तब तक वह भटकता रहेगा। कभी इधर, कभी उधर भागता रहेगा। ऐसे प्राणी का उद्धार सम्भव नहीं है। गुरु धारण करना मन्ज़िल को देख लेना है।

मन को एकाग्र करने का तीसरा साधन है - गुरु ध्याना। सूफ़ी संतों ने इसे ही 'शग़ल राब्ता' कहा है। किसी जीवित गुरु की शरण पकड़ें। जीवित से तात्पर्य शरीरधारी से है, क्योंकि गुरु तो अमर तत्व है। हृदय चक्र या आज्ञा चक्र पर, जैसा श्री गुरुदेव बतावें या बता चुके हों, उसका ही ध्यान करें। लेकिन इसके लिए आवश्यक यह है कि गुरु सच्चा एवं पूर्ण हो और शिष्य प्रेम-प्रवण हो। जिसका ध्यान करोगे वही हो जाओगे। शैतान गुरु का ध्यान करने से शैतानी ख्याल हृदय में भर जायेंगे। अतः समर्थ गुरु के साथ ही यह अभ्यास लाभप्रद हो सकेगा। गुरु-ध्यान, प्रकाश और शब्द - दोनों सहज एवं सुन्दर हैं। गुरु के ध्यान से प्रकाश और शब्द स्वयं खुल जाते हैं। यह प्रेमियों का मार्ग है। बहुत से ऐसे प्रेमी भक्त हैं जो गुरु का ध्यान करते हैं, किन्तु उन्हें प्रकाश या शब्द नहीं मिल पाया है। यह उनके लिए निराशा की बात नहीं है। उन्हें आनन्द मिलता है, और वही सर्वस्व है। उसी के लिए तो सारे साधन थे। नित्य जीवन में उन्हें शान्ति मिलती है। उनका कर्म और आचरण पवित्र होता जाता है। यह उत्तम एवं वाँछित फल की प्राप्ति हुई, अतः यही उत्तम साधन है। प्रकाश या शब्द की तरह इसमें कल्पना का सहारा नहीं लेना पड़ता। गुरु को देखते हैं और उस पर मन को एकाग्र करते हैं। परम संत परम गुरु महात्मा श्रीकृष्ण लाल जी प्रायः कहा करते थे कि मेरा अभ्यास यही था कि मैं केवल अपने गुरुदेव को देखा करता था। अपने गुरुदेव को देखना और देखते रहना सबसे उत्तम और मधुर साधन है। भक्त गुरु में

अपने को इतना लय कर देता है कि उसका हँसना, बोलना, चलना, फिरना, खाना, पहनना - सब कुछ गुरु की भाँति स्वयं होने लगता है। यही एकाग्रता का फल है। प्रेमी भक्त गुरु की तरह रास्ते में स्वयं चलने लगते हैं। वैसे ही वस्त्र धारण करने लगते हैं। निरन्तर ध्यान से वैसे ही बन जाते हैं जैसे गुरु स्वयं हों, भृंगी कीट की तरह।

समर्थ गुरु अपने भक्त की सम्भाल सदा रखते हैं। श्री गुरुदेव ने जब पहली बार साधन का तरीका पूछा तो आपके श्री गुरुदेव महात्मा श्री रामचन्द्र जी महाराज ने उन्हें अपनी सबसे प्यारी वस्तु पर अपना मन एकाग्र करने को कहा। आपको अपना एक मित्र बहुत ही प्यारा था जिसके वगैर आप रह नहीं सकते थे। आपने स्वच्छ भाव से अपनी मित्र-प्रियता की बात कह दी। आपको उस मित्र का ही ध्यान करने का आदेश मिल गया। धीरे-धीरे गुरु-कृपा से मित्र का ध्यान हटने लगा और ऐसा हट गया कि बहुत वर्षों बाद जब वही मित्र एक बार श्री गुरुदेव से मिलने उनके अस्पताल में आये तो आप अपने उस अभिन्न मित्र को पहचान भी नहीं सके। अब आपका मन अपने गुरुदेव पर एकाग्र हो चुका था। एकाग्रता की यही कसौटी है। जिसे देखना है उसके अलावा किसी और का ध्यान तक न आवे, किसी और की पहिचान ही गुम हो जावे। जब मित्र महोदय ने अपना नाम बताया तब वे याद कर पाए। एकाग्रता मन को इतना अन्तर्मुखी बना देती है कि समस्त बहिर्मुखी वृत्तियाँ स्वतः शान्त हो जाती हैं। तो गुरु के स्वरूप का ध्यान सब साधनों से उत्तम है। हम जिसे प्यार करते हैं उसी के हाव-भाव में बोलने लगते हैं, उसकी आदतों को पकड़ लेते हैं।

मैं अपनी एक बात कह दूँ जो सबके लिए शिक्षाप्रद है। जिस दिन श्री गुरुदेव ने मुझे दीक्षा दी उस दिन की खुशी वर्णन से परे है। वह स्वतंत्र रूप से लिखी जाए वाली वस्तु है। केवल यह कहना चाहता हूँ कि आपने मुझे आज्ञा-चक्र पर ध्यान करने को कहा। इसके छः सात माह पूर्व मुझे श्री-चरणों का दर्शन मुरार में हो चुका था। मैंने कहा, मैं आपके दर्शनोपरान्त आपका ही ध्यान स्वयं करने लगा हूँ। उसमें ही मेरी वृत्ति रमने लगी है और इसमें मुझे अपरिमय आनन्द मिलता है। क्या मैं वही नहीं करता रहूँ ? श्री गुरु महाराज से पूछने में संकोच सा हो रहा था, क्योंकि वे प्रकाश का ध्यान हमारे लिए बता रहे थे और मुझे उसके बदले में उनका ध्यान करने की अनुमति लेनी थी। आप समझ सकते हैं, पूछने में मुझे कितना संकोच हुआ होगा। लेकिन प्रेम भी एक विचित्र वस्तु है। वह मनुष्य को पागल बना देती है। प्रेम में विचार और बुद्धि शून्य हो जाते हैं। यदि बुद्धि बनी रही तो प्रेम का असली रूप अभी खुल नहीं पाया। हमारी बुद्धि गर्क हो गयी। प्रेमी अपने प्रेमास्पद से सब कुछ कह देता है। उसे इस बात की चिन्ता नहीं होती कि मैं प्रेमास्पद के विपरीत बात तो नहीं कर रहा हूँ। बात विपरीत है या अनुकूल यह सोचने की शक्ति लोप हो जाती है। वह केवल यही जानता है कि हमें कहना है और अपने प्रेम के आवेश में वह बातों को कह डालता है। मेरी बातों से आपका प्रेम भरा हृदय नाराज नहीं हुआ। आप खुश हो गए। आपने फ़रमाया - " बेटे, गुरु अपने मुँह से अपने स्वरूप का ध्यान किसी को नहीं बतलाता, किन्तु प्रेमी भक्त गुरु स्वरूप को ही अपना सर्वस्व मान लेते हैं/ तुम मेरा ध्यान करते हो, यह सबसे उत्तम साधन है/ तुम इसे ही करते रहना/ इससे बढ़कर कोई दूसरी वस्तु नहीं, कोई दूसरा साधन नहीं/ यही सब कुछ है।" मैं निहाल हो गया। प्रेम जहाँ घनीभूत और सच्चा होता है वहाँ प्रेमी के हृदय में ऐसी कोई बात ही नहीं आ सकती जो प्रेमास्पद के अनुकूल न हो। हाँ, जहाँ मन प्रियतम से दूर हो तथा प्रियतम में एकाग्र न हो वहाँ शैतान का शासन भी चलने लगता है। जब तुम जगत में किसी और को नहीं देखते, किसी अन्य की चाह हृदय में नहीं आती, केवल प्रियतम ही सामने होता है, सद्गुरु ही सामने रहते हैं, वैसी दशा में कोई बात नीति विरुद्ध, धर्म-शास्त्र के विपरीत आ ही नहीं सकती। जब मन दुनियाँ की रंगीनियों को देखता है तब उसका निर्णय भ्रान्ति-मूलक बन जाता है। अतः अपने मन की स्थिति की निरख-परख स्वयं करते रहना चाहिए। हाँ, गुरु-स्वरूप का चिन्तन उसे सब ओर से हटाकर केवल गुरु पर ही आधारित कर देगा।

प्रकाश और शब्द दोनों साधन हैं, साध्य नहीं। साध्य है ईश्वर-प्रेम। अतः गुरु-स्वरूप द्वारा यही ईश्वर-प्रेम स्वयं उदित हो जाता है। फिर रास्ते के चीज़ की अर्थात् प्रकाश और शब्द की आवश्यकता ही कहाँ रह जाती है? हाँ, चूँकि गुरु का प्रकाश एवं शब्द सदा जाग्रत रहता है, इसलिए साधक में गुरु-प्रेम माध्यम से ही वे स्वयं खुल जाते हैं। अतः गुरु स्वरूप का ध्यान ही प्रेमीजनों के लिए सर्वोत्तम एवं सहज सफल रूप है।

श्री गुरुदेव की कृपा से सबके जीवन में परम-शान्ति उतरो।

राम सन्देश - जुलाई, 1971 'श्याम' बक्सर

राम सन्देश : जुलाई-सितम्बर, 2019।

कर्म सिद्धान्त

(श्री विनोबा भावे)

इस दुनियाँ में कर्म और उसके फल का एक कानून है। जो जैसा कर्म करेगा, वैसा उसे भुगतना पड़ेगा। आप अगर बबूल का बीज बोते हैं तो बबूल उगेगा और अगर आम की गुठली बोयेंगे, तो आम उगेगा। इसका नाम है ' कर्म का

कानून '। इस कानूनों को कोई व्यक्ति या समाज बदल नहीं सकता। जैसा कर्म करेंगे, वैसा फल पायेंगे। इस कानून को ध्यान में रखकर चलना पड़ेगा। अग्नि में पाँव डालेंगे तो पाँव जलेगा ही। पाँव न जले तो 'अग्नि से पाँव जलता है' इस कानून का खण्डन हो जायेगा। मतलब वह श्रष्टि का न्याय नहीं होगा। इस तरह श्रष्टि में एक पक्का, अटल, शक्तिशाली कानून है। कर्म का कानून कहता है कि कर्म का फल अटल है।

कर्म तीन प्रकार के होते हैं - संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। संचित कर्म यानी पुराने अनेक जन्मों के इकठ्ठे हुए कर्म। पूर्व कर्म असंख्य होते हैं। मनुष्य जब जन्म लेता है, तब उनमें से एक विशिष्ट अंश उपभोग के लिए लेकर आता है। उस अंश को 'प्रारब्ध' कहते हैं। पुराने संचित कर्म का जो ढेर है, उनमें से कुछ कर्म तीव्र होते हैं। कुछ मन्द होते हैं। तीव्र कर्म भोगने के लिए ही यह जन्म मिला है। इसी का नाम 'प्रारब्ध' है। कर्म का मन्द भाग जो अभी भोगने को नहीं मिला है उसका नाम है 'अनारब्ध' वह अभी शुरू नहीं हुआ है, लेकिन ढेर पड़ा है। प्रारब्ध को आपने भोगने के लिए ले लिया है। बैंक में से इतना रुपया उठा लिया है। उसी के आधार पर आपका जीवन चल रहा है। वह खत्म होते ही देह गिर जाती है।

अब आप यहाँ इस जीवन में और भी कर्म करते हैं। प्रारब्ध कर्म तो हैं ही, उसके अलावा नए कर्म कर रहे हैं। यह नया कर्म 'क्रियमाण' कर्म है। प्रारब्ध कर्म जब समाप्त हो जायेगा तो मनुष्य मर जायेगा। उसके बाद पुराना सब संचित यानी 'अनारब्ध' कर्म और यह नया किया हुआ कर्म, फिर भोगना होगा। अब यह नया किया हुआ कर्म बहुत अधिक हो तो 'अनारब्ध' और 'क्रियमाण' दोनों मिलकर संचित से बड़ा भी हो सकता है। जितना भोग लिया, उससे कम-बेसी कमाया तो वह बढ़ भी सकता है और घट भी सकता है। पुनर्जन्म के कुल कर्मों का घेरा छोटा भी हो सकता है और बड़ा भी। यह व्यक्ति के पुरुषार्थ पर निर्भर है।

यदि परमेश्वर की कृपा हो, साक्षात्कार हो, तो सारे संचित कर्म खत्म हो सकते हैं। लेकिन प्रारब्ध कर्म तो भुगतने ही पड़ते हैं। आत्म ज्ञान हो जाये तो क्रियमाण भी बाधक नहीं होंगे। मतलब उनका लेप नहीं लगेगा, ये कर्म चिपकेगें नहीं, क्योंकि उनमें अहंकार नहीं होगा। ज्ञान और भक्ति से कर्म की वासना नष्ट होती है, जिससे कि कर्म फिर नहीं होते। परन्तु प्रारब्ध कर्मों को तो भोगना ही पड़ेगा। तीर निकल जाने के बाद क्या लाभ होने वाला है ? पश्चाताप से चित्त की शुद्धि होती है और उससे आगे कर्म होना बंद हो जाते हैं, बशर्ते कि पश्चाताप के साथ संकल्प हो कि ऐसे दुष्कर्म फिर मेरे हाथ से नहीं होंगे। ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर यही है कि अज्ञानी दुःखपूर्वक कर्म-फल भोगता है और ज्ञानी आनन्दपूर्वक। पश्चाताप से मानसिक शुद्धि होती है और पाप से फल मिलते भी हैं तो भी चित्त पर उसका असर नहीं होता है। इसी को पाप नाश समझना चाहिए।

एक आम धारणा यह है कि पुण्य कार्य से पाप क्षय होता है। वास्तव में पुण्य से पाप का क्षय कभी नहीं हो सकता। आप पाप पर पुण्य का प्रहार करते हैं, तो वह वैसी ही बात हो जाती है, जैसे राक्षस पर प्रहार किया, कुछ बूँद खून टपका, और हर बूँद से एक नया राक्षस खड़ा हुआ। सार यह है कि किसी कर्म से किसी कर्म का नाश नहीं होता। यह बात बीजगणित से समझायी जा सकती है। अंकगणित में जैसे $5-5=0$ होता है वैसा बीजगणित में नहीं होता। बीजगणित में $अ-ब=अ-ब$ होता है। पुण्य से पाप कटता नहीं। पुण्य का खाता अलग है और पाप का खाता अलग है। पुण्य का और पाप का, दोनों का फल अलग-अलग चखने को को मिलेगा। कर्म का फल भोगे वगैरे समाप्त नहीं होता। कर्म नाश तो आत्मज्ञान से ही सम्भव है।

पाप कर्म मुक्ति कार्य का विरोधी है, यह तो सभी जानते हैं लेकिन कितनी ही बार पुण्य भी मुक्ति के मार्ग में बहुत बड़ा रोड़ा बन जाता है। वह पाप से कम नहीं होता। कारण लोग पाप को तो पाप समझ सकते हैं लेकिन जब पुण्य सौम्य, सुन्दर, उज्ज्वल रूप धारण कर मानव के सामने खड़ा हो जाता है, तब भ्रम पैदा हो जाता है और वह मुक्ति के बदले उसे ही सब कुछ समझ बैठता है। इस प्रकार बुरी तरह ठगा जाता है।

पुण्य कर्म करने से चित्त शुद्धि होगी और चित्त की शुद्धि होने पर पाप करने की बुद्धि नहीं रहेगी, यह सम्भव है। परन्तु उससे पूर्व पापों का क्षय नहीं होता। वो तो होगा आत्मज्ञान से। आत्मज्ञान पाप को तो खत्म करता ही है, पुण्य की भी आवश्यकता नहीं रहने देता। दोनों को खत्म करता है।

कर्म-फल से हम तुरन्त मुक्त हो सकते हैं, यदि अहंकार से मुक्त हो जायें। लेकिन मनुष्य अपने अहंकार से चिपका रहता है। अहंकार छूट जाता है, तो पुराने पाप खत्म हो जाते हैं। लेकिन अहंकार छूटता कहाँ है ? " ये मैंने किया, वह मैंने किया " - इस तरह का अहंकार मनुष्य को रहता ही है। इसलिए उसको पाप-पुण्य का फल भोगना ही पड़ता है। अहंकार को तोड़ सकें तो सबसे मुक्त हो सकते हैं।

कर्म-सिद्धान्त आपको दण्ड देने के लिए नहीं है, यद्यपि सज़ा देना ईश्वरीय प्रेम का ही लक्षण है। ईश्वर आपको सुधारना चाहता है। उसमें अपवाद हो सकते हैं। जैसे कानून से फाँसी होती है, परन्तु राष्ट्रपति फाँसी को क्षमा भी कर सकते हैं। न्याय से बढ़कर भी एक चीज़ है - दया। हमारे दुराचरण का फल हमें मिलना ही चाहिए, पर ईश्वर की कृपा हो जाये तो उससे छुटकारा भी हो सकता है, बशर्ते पश्चाताप हो। तब फिर कितना भी दुराचारी हो, पश्चाताप के कारण धर्मात्मा बन सकता है।

कर्म का परिणाम अवश्य भोगना पड़ता है, यह एक महान सिद्धान्त है। सिर्फ कर्म का ही नहीं, मन में जो अच्छे-बुरे विचार आते हैं, उनका फल भी भुगतना पड़ता है। जो शब्द इस समय उच्चारण किये जा रहे हैं, वे जगत को व्याप्त हो रहे हैं, चाहे कोई उनको सुन सके या नहीं। जैसे अच्छे-बुरे शब्द फैलते हैं, उसी प्रकार अच्छे-बुरे मानसिक विचारों का भी प्रसार होता है और उसका फल भोगना पड़ता है।

कुछ कर्म मिले-जुले होते हैं तो कुछ व्यक्तिगत। कभी कर्म ऐसा भी होता है कि एक के गलत कर्म का फल दूसरे को भोगना पड़ा। परिवार में ऐसा होता है। किसी एक की गलती का फल सबको भुगतना पड़ता है। परिवार में एक लड़का चोर निकला, तो इसकी ज़िम्मेदारी बाप पर भी है। वैसे ही एक व्यक्ति के कर्म का फल सारे समाज को भोगना पड़ता है। इस तरह समाज की ज़िम्मेदारी व्यक्ति पर और व्यक्ति की ज़िम्मेदारी समाज पर है। कर्म के कानून में दोनों अलग नहीं हैं।

साधारणतः माना गया है कि कर्म बंधनकारक है। प्रश्न पूछा जाता है कि कर्मबन्धन यानी क्या ? कर्मबन्धन है अपने चित्त पर कर्म का आवेग। मनुष्य कर्म करते-करते उसके प्रभाव में आ जाता है। और फिर कर्म उसको खींचकर ले जाता है। जैसे मनुष्य घोड़े पर चढ़ता है, तब लगाम अपने हाथ में रही तो ठीक, अन्यथा घोड़ा ही उसको खींच कर ले जाता है। वैसे ही कर्म के कर्ता हम होने पर भी कर्म का प्रभाव हम पर पड़ता है और वह हमें खींच ले जाता है। दुष्कर्मा का फल तो खराब होता ही है, इसलिए उन्हें तो छोड़ना ही चाहिए। परन्तु सत्कर्मा की लगाम भी अपने ही हाथ होनी

चाहिए, अन्यथा उसमें भी अहंकार, आसक्ति, आदि पैदा हो सकते हैं। जैसे देश सेवा सतकर्म है, उसमें सब शुभेच्छा से ही आते हैं, पर उसमें भी मतभेद, विरोध, दुश्मनी की हद तक पहुँच जाते हैं। यह कर्म का हम पर प्रभाव पड़ा।

जानी मनुष्य भी प्रकृति में स्थित होते हैं, जैसे कि और दूसरे लोग। सामान्य मनुष्य के नाते उनका खाना-पीना, घूमना, सोना चलता रहता है। फिर भी वह अपनी ओर से न कोई कर्म करता है, न किसी कर्म का परिणाम उस पर होता है। वह कर्म के बन्धन में नहीं पड़ता, क्योंकि वह नचाने वाली तृष्णा से मुक्त है। वह न 'कर्ता' है और न किसी का कर्म बनता है।

(सौजन्य : पुस्तक 'कर्म विवेचना' - सर्व सेवा संघ प्रकाशन)

शान्ति की खोज में

गुरु ईश्वर का पूर्ण स्वरूप है

सन्तों की वाणी है " गुरु ईश्वर का पूर्ण स्वरूप है। " गुरु नाम-रूप युक्त होता है तथा उससे मुक्त और परे भी वही है। शरीर की दृष्टि से वह नाम-रूप युक्त है, किन्तु आत्मा की दृष्टि से वह नाम-रूप से मुक्त एवं परे है। अतः नाम-रूप का आश्रय लेकर नाम-रूप से मुक्त हो जाना ही सच्चा गुरु प्रेम है। तब सारा जगत ही परमात्मा का रूप बन जाता है। कुछ नाम एवं रूप परम्परा से हैं जिनके श्रवण या अवलोकन से ही परमात्मा सुनाई या दिखाई पड़ते हैं। साधन के लिए यह आवश्यक है, पर इसमें संकीर्णता नहीं आनी चाहिए। साम्प्रदायिक संकीर्णता का रूप इसमें छा जाता है।

सन्तों का एक परिचय यह है की जिसमें कोई संकीर्णता नहीं है। Narrowness is the worst form in the path of spirituality (आध्यात्म पथ में संकीर्णता सबसे गन्दा रूप है) गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है - " संत सरल चित्त जगत हित जानि सुभाउ सनेहु "। सन्तों का चित्त सरल होता है, वह जगत हित के लिए होता है। स्वभाव से ही संत प्रेम प्रवण होते हैं। अतः अन्तर में उदारता अपेक्षित है। उनका आचरण पवित्र एवं उदार होता है। हमारे श्री गुरुदेव परमसन्त श्रीकृष्ण लालजी ऐसे ही पवित्र एवं स्तुत्य जीवन-यापन करने वाले महापुरुष थे। आप प्रायः कहा करते थे कि- "मुझे जो कुछ अनुभव प्राप्त हुआ है अपने गुरुदेव महात्मा श्री रामचन्द्र जी महाराज (फतेहगढ़) की सेवा में रहकर उनकी कृपा से प्राप्त हुआ है। बचपन से ही हम आनन्द की तलाश में थे। शुरु से ही ईश्वर भक्त थे। भगवान कृष्ण के प्रति हृदय में अनुराग था। बचपन से ही भगवान कृष्ण मुझे दर्शन दिया करते थे तथा मुझे मार्गदर्शन देते रहे। आगे होने वाली घटनाओं को स्वप्न में बता दिया करते थे। सम्भव है कि हम किसी जन्म में कृष्ण-प्रेमी रहे हों। लेकिन परमात्मा की कृपा से विद्यार्थी जीवन में ही परमात्मा रूप में श्री गुरुदेव के दर्शन हो गये। जीवन सफल हो गया। माँ-बाप, मित्र-रिशतेदार सबका प्यार देखा, किन्तु श्री गुरुदेव का जैसा वह प्रेम कहीं नहीं मिला। गुरु-दर्शनों के पश्चात् भगवान कृष्ण स्वयं दूर हो गये। सब श्री गुरुदेव की कृपा थी। पहले हमने गुरुदेव को सबसे ऊँचा तो माना, किन्तु उन्हें ईश्वर नहीं माना। हम दोनों के बीच में मन व बुद्धि बाधा बने रहे। हम समर्पण नहीं कर सके।"

" परमात्मा अनेक रूप बनकर हर जगह खेल कर रहा है। ईश्वर को आप स्वयं अनुभव नहीं कर सकते हैं। वह सबसे परे है। बूँद समुद्र को कैसे नाप सकती है? पूर्ण रूप से समुद्र का पानी तो दरिया में आ नहीं सकता, किन्तु जब बाढ़ आती है तो समुद्र का पानी दरिया में आ जाता है। आप भी नदी की तरह पूर्ण रूपेण गुरु- रूपी सागर में अपने को समर्पण कर दो। गुरु को ईश्वर मानकर पूजो। जब ऐसी दृष्टि हुई तो गुरु ने कृपा द्वारा अनुभव करा दिया।"

श्री गुरुदेव ने एक बार प्रेम वश भण्डारे में कहा - " मैं न तो ईश्वर हूँ, न गुरु हूँ, मैं केवल एक माध्यम हूँ। जब तक आप मुझसे सम्बन्ध नहीं जोड़ेंगे, मेरे contact- (संपर्क) में नहीं आर्येंगे तब तक आप मेरे गुरुदेव से connection (सम्बन्ध) नहीं जोड़ पायेंगे। गुरु से प्रेम हो जाने पर किसी को कुछ करना-धरना नहीं होता। गुरु से सबसे ज्यादा प्रेम हो और जगत से प्यार secondary (गौण) हो। बिना गुरु के आत्मा का आनन्द नहीं मिल सकता, मन और बुद्धि का मिल सकता है। अतः सबको छोड़कर केवल गुरु से प्रेम करो। उससे नाता जोड़ लो। "

श्री गुरुदेव की यह वाणी त्रिकाल में सत्य है। गुरु को ईश्वर जानकर उससे केवल प्यार करते रहना, सच्ची गुरु-भक्ति है। जगत में जितने प्राणी दुखी हैं। उन पर ईश्वर की विशेष कृपा है। क्योंकि दुःख में ही ईश्वर अधिक याद आता है। ईश्वर की याद करने से अधिकार बनता है और अधिकारी जीव को ही ईश्वर प्राप्ति होती है। अधिकारी जीव गुरु की खोज करता है। गुरु की शरण में जाने पर गुरु में विश्वास बढ़ता है। गुरु में जितना विश्वास बढ़ता जावेगा, गुरु प्रेम उतना ही निखरता जावेगा। गुरु प्रेमवश धर्म पर चलने वाला बनाता है। धर्म पर चलने से गुरु-प्रेम में दृढ़ता आती है। मन जब भोग पदार्थों से उपराम हो जाता है, तब ईश्वर के प्रति भरोसा उत्पन्न होता है। मन का भावों में दृढ़ होना आध्यात्म के लिए अच्छा नहीं। यदि किसी जीव को जगत में निराशायें मिलती हैं तो यह उसके लिए चिन्ता की बात नहीं। यह उसके जीवन का वरदान है। उस पर ईश्वर की विशेष कृपा है। मन जब तक दीन नहीं बनता, गुरु की खोज करना आवश्यक नहीं समझ पाता। मन के चूर होने तथा दीन बनने से अधिकार बनता है। ऐसे अधिकारी जीवों की तलाश गुरु स्वयं करते हैं। जो

जगत रस में लीन है, उसका अधिकार अभी सोया है और ऐसों की ओर से गुरु मुँह मोड़ लेते हैं। इस युग में जहाँ गुरु दुर्लभ हैं, वहीं शिष्य भी दुर्लभ हैं।

मन के दीन बनने में सबसे बड़ा शत्रु क्रोध है। अधिकारी बनने के लिए क्रोध का प्रशमन आवश्यक है। प्रश्न उठता है कि क्रोध कैसे शान्त किया जाय ? अपने को ही अच्छा समझना अहंभाव है। अहं पर आघात होने पर ही क्रोध आता है। अतः अहंभाव को मारो। दीन बन जाओ। अपने को ही दूसरों से अच्छा मत समझो तथा दूसरों के अवगुण न देखो। दूसरों के अवगुण देखने से भी क्रोध आता है। श्री गुरुदेव इस सम्बन्ध में अपनी दो घटनायें सुनाते थे। एक बार वे फतहगढ़ जा रहे थे। ट्रेन में एक मामूली सिपाही से मुठभेड़ हो गयी। दोनों ओर से बातें बढ़ती गयीं और झगड़ा बढ़ गया। दूसरी घटना में एक भंगी को गाली दे दी थी। वह मारने को तैयार हो गया था। इन दो-एक घटनाओं से ही मन दीनता की ओर अग्रसर हो गया। आप प्रायः कहा करते थे कि क्रोध अहंकार की निशानी है। अतः अपनी शेखी, अपना अहं तोड़ो। हम सभी भाई-बहिनों को इन घटनाओं से शिक्षा लेनी चाहिए। हर एक के जीवन में ऐसी घड़ियाँ आती हैं जब मामूली आदमी भी मुँह तोड़ जबाब देने को तैयार हो जाता है। अपने को बड़ा मत समझो। अंग्रेजी में एक कहावत है - He that is down needs no fear or fall (अर्थात् जो अपने को दीन बना लेता है उसे क्या डर है ?) अतः क्रोध-रहित एवं अहं शून्य होकर दीन बनाना भी सच्चा गुरु प्रेम है।

एक जिज्ञासु भाई ने श्री गुरुदेव से पूछा - ' समाज के हित के लिए क्या उद्दण्ड बनना ठीक होगा ?'

कृपानिधान श्री गुरुदेव ने फ़रमाया कि किसी की इज़्जत बचाना उद्दण्टता नहीं, मानव-धर्म है। उसके लिए अपनी जान तक दे दो। लेकिन किसी की भलाई करने से तुम्हारे मन में खुशी होती हो और इसमें बदले की भावना बनी हो तो यह भी बन्धन का कारण है। जहाँ भलाई में खुशी नहीं मालुम हो, यह निष्काम भाव है। इससे जीव अधिकारी बनता है। यह आत्मा की दशा है। यह सम-अवस्था में आना है। सम-अवस्था, यानी सत, रज एवं तम - एक अवस्था में आ जायें। पंच-आवरणों में आनन्द भी एक सूक्ष्म आवरण है। अतः 'आनन्द ' है - यह आभास भी आवरण है, आनन्दमय कोष है। आत्मा में तो आनन्द नहीं, सरूर है। इस स्थिति में आना ही सच्चा गुरु-प्रेम है। गुरु के प्रति सच्चा प्रेम हो गया तो उनकी कृपा से यही दशा भक्तों के जीवन में उतर जाएगी। यही परम शान्ति का पाना है। अतः सच्चे गुरु-प्रेम से ही परम शान्ति जीवन में स्वयं उतर आती है।

जो दीन हृदय का है वह रास्ते का पक्का पथिक है। वह सत पर चलता है। श्री गुरुदेव कहते थे - "by appearance it is learnt whether they will stick or not" अर्थात् जीव को देखकर ही गुरु समझ जाते हैं कि साधन में कौन टिकेगा और कौन नहीं। रजोगुणी भी सच्चे अधिकारी नहीं हैं किन्तु गुरु की संगति से सम्भव है कि वे प्रभावित हो जावें। सात्विक वृत्ति वाले देर से स्वीकार करते हैं, किन्तु उसके बाद बदलते नहीं, हमेशा के लिए ठहर जाते हैं। तुनक मिज़ाज वाले रजोगुणी होते हैं। वे नहीं ठहरते। दुनियाँ के सारे रंग कच्चे हैं। ईश्वर का प्रेम, गुरु का प्रेम पक्का रंग है। इसके चढ़ जाने पर जगत के सारे रंग धूमिल पड़ जाते हैं। दुनियाँ का सारा प्रेम गायब हो जाता है। गुरु प्रेम के दो बूँद पक्का रंग में जगत का सारा रंग हृदय में भर लेना ही जीवन का मूल है। गुरु प्रेम की इसी दशा में परम शान्ति जीवन में स्वतः उतर आती है।

शरण का भाव उदय होना तथा भरोसा दृढ़ होना गुरु प्रेम की निशानी है। सबकी आशा छोड़कर केवल गुरु का भरोसा पकड़ो। वह सब कुछ देने वाला है। सब कुछ देने का अधिकार रखता है। यही सोचो कि मैं तो उसका हूँ, फिर वह जाने कि उसे मुझे कैसे रखना है ? संत कबीर साहब फरमाते हैं-

" उस समरथ का दास हूँ, किते होहिं अकाज,

पतिव्रता नाँगी रहे, तो उसी पुरुष को लाज !"

पतिव्रता नारी बनो। वह केवल अपने पति का ही भरोसा रखती है। पति खूब जनता है कि उसके लिए क्या करना है। बेचारा मारा-मारा फिरता है और पत्नी की इच्छाओं को पूरा करता है। कितना उदात्त और शांत प्रेम है। किन्तु पत्नी भी सेविका हो और पति जो लाकर रख दे उसमें संतोष धारण करने वाली हो। प्रेम तो कुछ लेना नहीं चाहता। वह केवल समर्पण जानता है। पति को तन, मन, बुद्धि, जीवन सब कुछ अर्पण कर दो। वह स्वयं तुम्हें साज-श्रंगार से भर देगा। जहाँ इसके विपरीत है, वहाँ अशांति है, कलह है। शांति चाहते हो तो गुरु को पति रूप में देखो। पति कहते हैं पालन करने वाले को। वह पालन कर्ता है। उसकी ओर चातकी आँखें लगाए रखो। सब ओर से बेसहारे हो जाओ, किन्तु उससे कभी निराश न होओ। वह प्रेम का भण्डार है। हम तो प्रेम करना भी नहीं जानते। मैं पहिले लिख चुका हूँ, एक भाई की नौकरी छूट गयी। चारों ओर से निराश हो गया। लेकिन अन्दर में गुरु की ओर आँखें लगी रहीं। जगत बुद्धि वाले सभी कहते थे "अब नौकरी यहाँ नहीं लगेगी। यदि ईश्वर-कृपा से लगी भी तो शीघ्र नहीं लगेगी।" किन्तु पानी की धार की तरह अफसर का दिल पलट गया। लगभग डेढ़ माह की छुट्टी होने वाली थी ओर उससे एक रोज़ पहले नौकरी मिल गयी। सभी आश्चर्य चकित हो गए। यह क्या था ? यह गुरु महिमा थी। जो गुरु पर भरोसा रखता है उस पर गुरु महिमा अनायास उतर आती है।

तुलसीदास जी ने भक्ति की महिमा इसीलिए गायी है। कहते हैं - ज्ञान वैराग्य आदि पुरुष वर्ग के हैं। माया उन्हें शीघ्र अपने वश में कर लेती है। भक्ति नारी वर्ग की है। माया का प्रभाव भक्ति पर नहीं पड़ता।

मोह न नारि नारि के रूपा, पन्नगारि यह रीति अनूपा !

नारी का रूप नारी को आकृष्ट नहीं करता। पुनः भक्ति श्री राम की दुल्हन है। माया राम की दासी है। वह स्वामी को अपने वश में करने का वृथा प्रयास नहीं करती, अपितु उसके भय के कारण उसके अनुकूल चलती है। उसके इशारे पर नाचती है। जब माया दूर खड़ी रहे तो जीव भक्ति का सहारा ले विहंगम गति से ईश्वर की ओर अग्रसर होने लग जाता है। जिस भक्ति के लिए ज्ञानी जन्म-जन्म तक कठिन साधना में रत रहते हैं वही मुक्ति भक्तों के जीवन में, तुलसीदास जी के शब्दों में, अनिच्छा से तथा ज़बरन आने लगती है। भक्त मुक्ति की कामना हृदय में लाता ही नहीं, फिर ही वह अनायास जबरदस्ती भक्त हृदय को चूमना चाहती है। जब मुक्ति प्रेमी भक्तों के जीवन में उतरने के लिए स्वयं दौड़ लगाती रहती है, तो फिर अन्य वस्तुओं के लिए क्या चिन्ता ? शरणापन्न होने में ही अत्यधिक शांति है।

आज श्री गुरुदेव शरीर में वर्तमान नहीं हैं, किन्तु उनका अविरल प्रेम अपनी डोर में खींचे हम सबको उनके चरणों में ला देता है। क्या हमें अनुभव होता है कि हम वहाँ जा रहे हैं जहाँ अब श्री गुरुदेव नहीं रहे? कोई प्रेम, कोई कशिश हमें अनजाने में अपनी ओर खींच लेती है। तो गुरु शरीर-रूप नहीं, प्रेम-रूप होता है। हमारे श्री गुरुदेव प्रेम-रूप थे, प्रेम-रूप हैं

ओर सदा ऐसे ही रहेंगे। उनका प्रेम ही हम सबको एक डोरी में बाँध रहा है। जब नंदजी भैया प्रेम विभोर होकर भजन सुनाते हैं -

" तेरा दास आया यही आस करके,

कि बनेगी दयानिधि न मुझको बिसारे "

तो किसकी आँखें उस चिरन्तन प्रेमी को नहीं देखतीं? किसका सिर उस सनातन प्रियतम के चरणों में नहीं झुक जाता और कौन उसके आशीर्वाद की अँगुलियाँ अपने सिर पर नहीं पाता? लगता है, वह प्रियतम बोलने लगा हो- " मैं गया कहाँ हूँ ? तुझे भूला कहाँ हूँ ? मैं तो तेरे लिए ज़ार-ज़ार आँसू बहाता हूँ, तुम्हारे लिए रोता हूँ। मैं तो तुम्हारे संग-संग हूँ। तुम जैसे भी हो हमारे हो। जब मेरी ओर देखोगे मुझे अपने पास पाओगे। मैं दूर कहाँ ?" यह भाव आता है और उस मधुर प्रियतम की इस प्रेमभरी वाणी को अन्तर में सुन किस का हृदय और भी द्रवित नहीं हो जाता। यही तो प्रेम की लीला है। जो सामने न हो, न सही, रोम-रोम में समाया सा जान पड़े, जिसके लिए अनजाने, अनायास बेकली बनी रहे, आँसू आते रहें। इससे बढ़कर प्रेम का स्वरूप और हो ही क्या सकता है? लोग कहते हैं संत मत निराकार की उपासना है। किन्तु जहाँ उपासना शब्द आया प्रेम में प्रेमी और प्रिय दोनों की स्थिति एक हो जाती है। फिर भी प्रेमी और प्रिय का भाव बना रहना ही प्रेमी की उपासना है। एक कवियत्री कहती हैं -

" सखि, मधुर निजत्व दे कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं !"

यदि मैं केवल तुम हो जाऊँ, यह ठीक है और आराधना की चरम सीमा है, किन्तु तुम मुझे प्यार करते हो और करते रहो, यह जानने के लिए, इसका स्वर्गिक रसास्वादन के लिए अपने मधुर निजत्व का विलयन नहीं चाहती। मेरी खुशी यही है कि हे प्यारे, मैं तुम्हारी गोद में बैठी रहूँ, और तुम मुझे अपने अलौकिक प्यार से भरते रहो, चूमते रहो। बस प्रेमी हृदय यही चाहता है। मैं तो यही चाहता हूँ और मुझे विश्वास है मेरा प्रियतम मुझे कभी भूल नहीं सकता। वह मेरे हाल पर रहम करेगा। मुझे अपने प्यार से सदा के लिए भर देगा। हम सबके प्रति उसका यही प्यार पल्लवित हो रहा है। हम सभी उसके स्वर्गिक प्रेम को अपने हृदय में उतारें, अन्तर में उतारें। अपने हृदय का द्वार खोल दें, देखें वह कैसा पावन प्रेम उंडेल रहा है। और हे प्रियतम ! अपने इस स्वर्गिक प्रेम के बदले मुझसे क्या चाहते हो ? मेरे पास क्या है जो मैं तुझे दे सकूँ ? हाँ, इतनी ही प्रार्थना है कि समय हो और कभी अवसर मिले तो मुझ जन्माजन्म पापी की ओर भी तनिक देख लेना, हम सबकी ओर देख लेना और हमारी प्रार्थना सुन लेना। यही हम सबकी श्रद्धा-भेंट है। इसे स्वीकार कर लेना। हम तो सदा से तुम्हें आँसुओं की माला पहनाते आये हैं -

" पापी हृदय पिघल कर आँखों में उमड़ आया

इन आँसुओं की माला, लो भेंट है तुम्हारी "

और बस, तुम्हारे कृपा से ही तुम्हारा प्रेम हम सबके जीवन में जन्म-जन्म तक भरा रहे। तुम्हारे प्रेमवश सबके जीवन में परम शांति उतरे।

जय श्री गुरुदेव

'श्याम' बक्सर

राम सन्देश - अक्टूबर, 1971

' शान्ति की खोज में।

गुरु प्रेम ही जीवन का सर्वस्व है

गुरु प्रेम ही जीवन का सर्वस्व है। गुरु से प्रेम करो - जीवन सुन्दर बन जायेगा। गुरु से कभी निराश न होओ। गुरु सब कुछ देते हैं, सबको देते रहे हैं, तुम्हें भी देंगे। उनकी मुहब्बत में कभी शक मत लाओ। तुम जो चाहते हो, जरूर होगा। जगत वालों से कुछ मत कहो, गुरु की ओर चातकी दृष्टि लगाए रहो। उन पर विश्वास और भरोसा रखो। यही गुरु प्रेम है। तुम जो सोचते हो, वही सामने आता है। जैसा विचार है, भावना है, वैसा ही कर्म बनता है। कर्म विचार और भावना का अनुगामी होता है। जितना ही सुन्दर और उत्तम विचार होगा, कर्म वैसा ही उतरेगा। विचार संकीर्ण होगा तो कर्म भी दूषित होगा। जो तुम मन में सोचते हो, वही व्यवहार में उतरता है। ऐसा नहीं होता कि सोचते कुछ और हो, होता कुछ और है। अपने विश्वास में जहाँ संशय आ जाता है, वहाँ अपनी भावना को शंकित तो तुमने स्वयं बना दिया। जहाँ अविश्वास उतपन्न हुआ, संकल्प-सिद्धि नहीं होगी। अतः पूरे मनोबल से अपनी भावना के प्रति विश्वास बनाये रखो। श्री गुरुदेव पर अटूट विश्वास बना रहे तो कल्पना साकार हो उठेगी। भगवान् श्रीकृष्ण द्वापर के गुरु थे। अर्जुन उनका परम प्रिय शिष्य था। कृष्ण ने अर्जुन से कहा -

" सर्वधर्मान परित्यज्य, मामेकं शरणामब्रज

अहं त्वया सर्व पापेभ्योः मोक्षयिष्यामि माभुच :

गीता आ 18

" हे अर्जुन, सभी धर्मों को छोड़ तू केवल एक मेरी शरण में आ जा। मैं तुझे सारे पापों से मुक्त कर दूँगा। तू सोच मत कर।" कृष्ण का यह उद्घोष केवल अर्जुन के लिए ही नहीं बल्कि युग-युग के शिष्यों के लिए है। वैसे ही हर युग का सच्चा वर्तमान गुरु ही श्रीकृष्ण है। महाभारत का युद्ध होने वाला है। अर्जुन और दुर्योधन दोनों ही श्रीकृष्ण के पास सहायता हेतु गए हैं। श्रीकृष्ण शयन कर रहे हैं। दुर्योधन अपने को राजा समझता है और कृष्ण के सिराहने आसन पर बैठा है। दुर्योधन अहं प्रतीक है। अर्जुन भक्त है, दीनता भक्ति का रूप एवं गुण है। वह अपनी दीनता में कृष्ण के पैरों के पास पायताने बैठ जाता है। कृष्ण की नींद खुलती है। अर्जुन पर ही पहले दृष्टि जाती है, जो दीन है। वह भगवान या गुरु को सबसे पहले अपनी ओर आकृष्ट करता है। इसलिए गुरु के पास दीन भाव से जाओ। अपना अहं लेकर जाओगे तो तुम उनका प्रेम नहीं पा सकते। अर्जुन की तरह दीन बनो और गुरु-प्रेम का रस लो। अब दुर्योधन और अर्जुन दोनों की बातें सुन कृष्ण कहते हैं - 'एक ओर मैं स्वयं अकेला निःशस्त्र रहूँगा, दूसरी ओर मेरी समस्त सेनाएँ सशस्त्र रहेंगी।' यह भी भक्त की परीक्षा थी। वह केवल गुरु को चाहता है या वाह्य शक्ति को। सच्चा प्रेमी भक्त केवल गुरु को चाहता है। गुरु तो ईश्वर है। वह सर्व समर्थ है, उसी का तो सब पसारा है। वह हर असम्भव को सम्भव करने वाला, हर असाध्य को साध्य करने वाला, हर साध को पूरा करने वाला, परम प्रिय सनातन प्रियतम है। अर्जुन को अकेले कृष्ण प्रिय लगे। दुर्योधन ने इतनी बड़ी सेना को लेना ही श्रेयस्कर माना। जिसकी जैसी भावना थी उसी के अनुरूप फल की प्राप्ति हुई। अर्जुन को कृष्ण मिले। अकेले कृष्ण, निःशस्त्र कृष्ण। किन्तु सबसे बड़े, सबको नचाने वाले, और सब कुछ कर सकने में समर्थ समर्थ केवल वही थे। अर्जुन के लिए अकेले निःशस्त्र कृष्ण ने सब कुछ कर दिया। महाभारत की सारी जीत का श्रेय केवल कृष्ण को ही है। युद्ध में भीष्म पितामह को दुर्योधन ने पूरे उत्साह और शौर्य से अर्जुन को परास्त करने के लिए प्रोत्साहित किया। आज भीष्म पितामह अपने अपूर्व शौर्य के साथ अर्जुन से लड़ने लगे। अर्जुन भी पूरे पराक्रम से भीष्म का सामना करने लगा, किन्तु अन्त में पितामह के कर्कश वाणों की भीषण वर्षा से तिलमिला गया। रक्षा हेतु कृष्ण को पुकारा। अपन

भक्त के त्राण हेतु गुरु अपना नियम, अपनी प्रतिज्ञा सब कुछ भूल जाता है। प्रेम में कोई नियम नहीं होता। प्रेम कोई कानून नहीं जानता वह सब नियमों से ऊपर है।

प्रेम यदि सच्चा हो तो सारे नियम, सारी प्रतिज्ञाएँ, सारे संकल्प, स्वयं टूट जाते हैं। प्रेम की धार में नियम बह जाता है। प्रेम की गंगा में डूब जाता है।

भक्त के प्रेम वश कृष्ण ने रथ का पहिया निकाल लिया और अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी। भीष्म को यह पहिया सुदर्शन चक्र सा लगा। उन्होंने वाण-वर्षा बन्द कर दी। हाथ जोड़कर कह पड़े, - " प्रभु ! मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण हुई, आपने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी।" कृष्ण ने इस प्रकार आपने दोनों भक्तों की लाज रख ली। अर्जुन की रक्षा कर उसकी लाज रखी और भीष्म ने प्रतिज्ञा की थी कि युद्ध-भूमि में आज अस्त्र उठाऊँगा - यह भी उन्होंने पूरी कर दी। भगवान सभी भक्तों की लाज रखते हैं। अपनी मर्यादा छोड़ भक्त की लाज बचाने हेतु दौड़ पड़ते हैं। कृष्ण का यह चरित्र हम सब के लिए बन्दनीय है। हमें भी अपने गुरु में अखण्ड विश्वास होना चाहिए।

हमारे श्री गुरुदेव प्रातः बन्दनीय डॉ। श्रीकृष्ण लाल जी इस युग के परम गुरु थे। आज वे इस नश्वर शरीर में नहीं रहे। 18 मई 72 को पूरे दो वर्ष हो गए। उनकी इस निर्वाण तिथि को बरबस ही उनकी याद आ जाती है। उनका प्रेम आज भी हम सबके लिए वैसा ही बना है। सच्चा प्रेम कभी बदलता नहीं, वह एकरस बना रहता है। आज भी वे हम सबसे कितना असीम और अथाह प्रेम करते हैं, यह मैं आपसे कहूँ। एक बार इधर मुझे बहुत दुःख होने लगा और आँखों से आँसू बहने लगे कि दुनियाँ में मेरा कौन है ? ईश्वर ने बचपन में ही पिता को ले लिया। मैं पिता के प्रेम से वंचित हो गया। केवल एक छोटा भाई था जिस पर पूरा भरोसा था कि मेरी हर सहायता के लिए दौड़ पड़ेगा। विश्वास था कि मैं अकेला नहीं हूँ, किन्तु परमात्मा ने उसे भी छीन लिया। और जिसे भी अपना सहारा समझा वे सारे टूटते गए। जिस पर विश्वास था कि मेरे दुःख दर्द में उसका हृदय मरहम पट्टी का काम कर पायेगा, वह भी टूट सा गया। उसने भी आँखें बदल लीं, मुँह फेर लिया। कोई तो नहीं दिखता जो जो मेरे आँसुओं को देख पूछ भी ले कि आखिर कब से बह रहे हैं, क्यों बह रहे हैं ? झूठा आश्वासन देने वाला भी कोई नहीं रहा। एक माँ है जो जान देकर भी हर मुश्किल को आसान करने में पूरे साहस और मनोबल से जुट जाती है। भगवान ने मेरे लिए उसे ही पिता के रूप में छोड़ा है, किन्तु वह भी अब अवस्था के दलदल में गिरती जा रही है। कल कहने लगी।।।" बेटे, एक आदमी को मौत से बड़ा डर था। यमराज को उसने प्रार्थना पूर्वक बुलाया और प्रार्थना की कि तुम सबको एकाएक लेकर चल देते हो, मुझे ऐसे न ले जाना। मुझे कुछ पहले खबर दे देना जिससे मैं जाने की तैयारी कर लूँ और खुशी-खुशी जाऊँ। यमराज ने प्रार्थना स्वीकार कर ली और 'ऐसा ही होगा' कह कर चले गए। कुछ वर्षों बाद यमराज अपने दूतों को लेकर आये और चलने के लिए कहा। आदमी घबड़ा गया और उलाहना भरे शब्दों में बोला - क्या तुम अपनी प्रतिज्ञा भूल गए ? तुमने हमें पहले तो खबर नहीं दी इसलिए मैं नहीं जाऊँगा। इस बार तुम्हें अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार हमें छोड़ना होगा।" यमराज मुस्कराते हुए कहने लगे - " तू कैसा मूर्ख इन्सान है। तुझे तो मैंने कितनी बार चेतावनी दी और सन्देश भेजा कि अब तुम तैयारी कर लो, किन्तु तुमने तो ध्यान ही नहीं दिया और बेपरवाह बने रहे। अब मैं क्या करूँ ? आज तो तुझे चलना ही है।" बेचारा आदमी और घबराया। कहने लगा, बताओ तो सही तुमने मुझे कब खबर दी।" यमराज ने कहा - " भाई, सबसे पहले मैंने तुम्हें खबर दी जब तुम्हारे बाल सफ़ेद होने लगे। तुम्हें तो समझ लेना था कि अब मुझे अपनी तैयारी शुरू कर देनी चाहिए। उसके बाद दूसरी खबर तब दी जब तुम्हारी आँखों की रौशनी कम होने लगी। तुम तब भी न चेत सके। तीसरे खबर हमने तब दी जब तुम्हारे दाँत हिलने

लगा चौथी खबर हमने दी जब तुम कानों से बहरे होने लगे। पागल आदमी, पाँचवी खबर हमने दी जब तुम समस्त शरीर से शिथिल हो गए और अपने शरीर से बाहर होने लगे, जर्जर होकर कहीं पड़े रहने लगे और अपनी दैनिक क्रियाओं के लिए भी विवश हो गए। अब कितनी बार तुझे खबर दूँ और कैसे बताऊँ ? चलो, देर मत करो, अब समय बीत चूका है। " बेचारे को रोते-रोते जाना पड़ा। ऐसा कह, माँ ने अपनी ओर इशारा किया, "मुझे भी सारे संकेत आ चुके हैं। अब तो शरीर से भी कोई काम नहीं बनता।" बस, मेरी आँखें भर आयीं। माँ के रूप में जो सहारा था वह भी शायद परमात्मा ले ले। मैंने मन ही मन श्री गुरुदेव से माँ की खुशी और ज़िन्दगी के लिए प्रार्थना की। " कुछ तो सहारा अभी रहे।" अलावे और भी जिस सहारे की कल्पना सजाये बैठा रहा वह टूटता गया। किसी-किसी मित्र को अपना अन्तरंग, अपना जीवन साथी, अपने जन्म-जन्म का अभिन्न हृदय समझा, किन्तु उसका हृदय भी समय के झोंके में पत्थर निकल गया। ऐसा कठोर कि शायद पत्थर भी न हो। इस दुःखद मनःस्थिति में मैं अपने को बेसहारा तथा अकेला पाने लगा। आँखें बरसने लगीं और देखते ही देखते श्री गुरुदेव सामने खड़े नज़र आयो कहा - " बेटे ! मैं जो तुम्हारे साथ हूँ क्या बात हुई जो सभी जाते रहे, चले गए, और चले जायेंगे मैं तो तुम्हें नहीं छोड़ सकता। तू तो मुझे ही अपना सब कुछ समझ ।" और मुझे नित्य की प्रार्थना का सार उसी क्षण मालूम हुआ जब कंठ से वाणी स्वतः ही फूट पड़ी।

" त्वमेव माता च पिता त्वमेवः

त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेवः!

त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव :

त्वमेव सर्वं मम देव देवः !!!"

लगा कि वही मेरी माता के रूप में, मेरे पिता के रूप में खड़े हैं, भाई भी वही हैं और विश्वास दिलाते हैं - " मैं तुम्हारी हर सहायता के लिए हूँ ।" सखा अर्थात् मित्र और अन्तरंग भी वही हैं और कहते हैं " अपने मन की सारी बातें खुलकर कहो। अन्तरंग समझो। मैं इस रूप में तुम्हारी भावनाओं से परिचित हूँ और सखा रूप में सब कुछ तुम्हारे लिए करूँगा। क्या कृष्ण ने अर्जुन के लिए सब कुछ नहीं किया? बेटे, विश्वास रखो और अपना सब कुछ मेरे भरोसे पर छोड़ दो। मैं ही तुम्हारा सर्वस्व हूँ।" मैं और ज़ोरों से एकान्त के खुले वातावरण में रोने लगा। टहलने गया था और प्रातः काल उस सुनसान मैदान में श्री गुरुदेव के अलावे और कोई न था। बहुत देर तक रोता रहा और श्री गुरुदेव के इस असीम प्रेम के प्रति मेरा हृदय भरता गया और उनकी इस कृपा से अपने को धन्य समझने लगा। क्या हुआ यदि दुनियाँ में कोई नहीं है, वह तो हैं। वही मेरे सर्वस्व, मेरे सब कुछ हैं, वह मुझे सब कुछ देंगे जो चाहता हूँ, सब पूरा करेंगे। उन पर अखण्ड विश्वास तो हो। मुझे बड़ा संतोष मिला और मैंने अपने हृदय में एक नई आशा, नए जीवन का अनुभव किया। श्री गुरुदेव का यह प्रेम सबके जीवन में उतरे।

एक प्रेमी भाई अपनी निराशाओं में होली की उस उषा बेला में टहलने गए। सारा भारतवर्ष उस दिन हँसने-गाने वाला था, अपनी खुशियों में झूमने वाला था। लेकिन वे आँसुओं से तर थे। इतने उदास कि अपनी जीवन लीला को समाप्त कर लेने की बातें सोचने लगे और रेलवे लाइन पर जाकर खड़े हो गए। उधर एक इन्जन सिगनल के पास दिखाई पड़ा। आँख बंद किये बीचों-बीच खड़े हो गए। दो चार मिनिट उसी भाव-दशा में खड़े रहे। लगा कि श्री गुरुदेव सामने आगये हों और कह रहे हैं - "यह क्या कर रहे हो, चलो, हटो जल्दी। क्या यह जीवन तुम्हारा है, क्या इसको बनाने- बिगाड़ने वाले तुम

ही हो। " और उनकी आँखें खुल गयीं। देखा तो इन्जिन सिगनल के पास ही खड़ा का खड़ा रहा। सिगनल अप था और वे वहाँ से हट गए। रोते - गाते श्री गुरुदेव के साये में घर आये। जैसे ही बिस्तर पर बैठे मानो श्री गुरुदेव बरस पड़े। "यह क्या करने जा रहा था तू ? क्या तुझे मुझ पर विश्वास नहीं ? किस वस्तु का अभाव है जो मैं पूरा नहीं कर सकता। तुझे तो यह जिन्दगी हमने दी है। क्या तू हमारा काम नहीं करेगा ? क्या जीवन-लीला समाप्त करके तुम अपनी निराशाओं पर विजय प्राप्त कर सकोगे ? अब तुम्हारी यह जिन्दगी मेरी है। जगत के सभी रूपों में मैं ही हूँ। उन सबसे प्रेम करो। सबकी सेवा करो। सबकी सेवा ही मेरी सेवा होगी और मेरे प्रति प्रेम होगा। प्रतिज्ञा करो कि भविष्य में कभी भी ऐसा दूषित विचार मन में नहीं लाओगा।" वह जार-जार रोने लगे। श्री गुरुदेव की हुजूरी में अपना सौभाग्य समझने लगे। उन्होंने प्रतिज्ञा की यह शेष जीवन आपको अर्पित है। आप ही इसके नाविक हैं। बस आशीर्वाद दीजिये कि आप में प्रेम और विश्वास दृढ़ हो जाये। इस प्रकार श्री गुरुदेव ने उन्हें इस विषम परिस्थिति से बचा लिया तथा अपने प्रेम से मालामाल कर दिया। गुरु का प्रेम हर हाल में साथ लगा रहता है। उनका प्रेम कभी भी हमें छोड़ नहीं सकता। इसलिए सबको छोड़कर श्री गुरुदेव के चरणों को पकड़े रहो।

दुनियाँ में जिसके लिए जितना भी करोगे वह तुमसे खुश नहीं हो सकता। एक प्रेमी भाई की बात और कहनी है। लगभग एक माह के कठिन परिश्रम से रात -दिन एक करके अपनी गृहस्थी का कार्य सम्भाल घर लौटे। बातों- बातों में उनकी पत्नी कह पड़ी - "आपको मुझसे प्रेम नहीं है।" उनकी आँखें भर आईं। श्री गुरुदेव को देखने लगे। कह पड़े, " भाई, इस वैशाख की चिलचिलाती धूप में, खेतों और खलिहानों में पड़ा-पड़ा शरीर की एक परत काली हो गयी। लू की आग में जैसे यह परत झुलस गयी। न खाने का ठिकाना था, न सोने के लिए बिस्तर। बस, धरती ही बिस्तर थी और आकाश चादर। इस धरती और आकाश के बीच महीने भर कठिन परिश्रम और कर्म में पड़ा रहा। कोई यह भी कहता, जमाना बुरा है, खलिहान में अन्न की इतनी राशि लिए पड़े रहते हो, किसी ने इसके लिए सीने में गोली दाग दी तो ? जाओ, घर जाओ और आराम से रहो।" उन्होंने कहा, " जीवन दाता ईश्वर है। उसे जो मन्जूर है वही होगा। फिर अपना कर्म करना, फर्ज अदा करना तो गुरु की सेवा है। श्री गुरुदेव जानें क्या होगा ? और श्री गुरुदेव का स्मरण कर, सारा भार उनपर सौंप, रात भर विश्राम करते रहे। अपने शरीर की यातना, इतना कठोर परिश्रम, अपनी जान की बाज़ी लगाकर, खुले आकाश के नीचे, क्या मैं अपने लिए पड़ा रहा ? क्या इससे अर्जित, श्री गुरुदेव के दिए अन्न से मैं स्वयं अपना पेट पालूँगा?" उन्होंने अपनी पत्नी से पूछा - क्या इसमें तुम्हारा हित नहीं है, बच्चों का हित नहीं है? और यदि है तो क्या यह पत्नी और बच्चों की सेवा नहीं हुई, उनसे प्रेम नहीं हुआ। तो फिर प्रेम और सेवा की परिभाषा और क्या हुई ? भाई, तुम लाख करो, अपना शरीर गला दो, लेकिन तुन्हें यही मिलेगा। पत्नी की उलाहना को शंकर के विष की तरह पी जाओ। उसमें न फंसो और उससे आगे निकलो। जहाँ तक सम्भव हो पत्नी की इच्छाओं को पूरा करो, उससे विद्रोह मत करो, और मिलजुल कर रहने की आदत डालो। लेकिन अपने परमार्थ को बाधित कर पत्नी के गुलाम मत बन जाओ। पत्नी की झिड़क को खुशी-खुशी बर्दाश्त करो। प्रेम और हिम्मत से काम लो। किसी के गुलाम मत बनो। प्रेमी भाई की इस बात से हम सबको शिक्षा लेनी चाहिए। यह प्रायः घर -घर की बात है। समझ लो कि सब स्वार्थवश ही प्रेम करते हैं। यदि स्वार्थ-पूर्ति में थोड़ी कमी हुई तो सब किया कराया गायब हो जायेगा। जब तक जीवित रहो, सबकी इच्छाओं को यथासम्भव पूरा करते रहो। एक इच्छा भी यदि पूरी नहीं हुई तो सबसे बड़े अपराधी समझे जाओगे। किन्तु भाई, इस उलाहना को हृदय में जगह न दो और श्री गुरुदेव की सेवा में लगे रहो। जो पैसा धर्म के सहारे मिले गृह-शान्ति के लिए पत्नी को दे दो। किन्तु यदि उसमें भी यदि महीने भर का गृह -खर्च न चलता हो तो पत्नी या बच्चों के कहने से कर्ज न लो। जितना पाते हो

उसी में सुखी रहो। यही गृहस्थी का तप है। अपने परमार्थ को बाधित कर घर वालों या दुनियाँ के चक्कर में कभी न आओ। दुनियाँ फसाने वाली है। गुरु का सहारा लें। इस दुनियाँ में रहते हुए भी इससे पूर्णतः उपराम हो जाओ। गुरु की कृपा से तुम्हें सब कुछ मिलेगा।

सच्चे प्रेम में कभी-कभी प्रियतम रूठ भी जाते हैं, किन्तु यह ऊपरी बात होती है। हृदय में तो प्रेमी के प्रति प्रेम ही भरा है। कभी-कभी प्रेम की परख के लिए प्रिय कोई सख्त बात कह देते हैं। एक बार श्री दादा गुरुदेव बीमार थे। आपने एक अन्य भाई को पत्र लिखा कि मैं बीमार हूँ, फ़ौरन चले आओ, किन्तु अपने परम प्रिय शिष्य प्रातः वंदनीय श्री गुरुदेव को आपने लिखा कि " मेरी तबियत खराब है लेकिन मैं नहीं चाहता कि तुम आओ। मैं तुम्हारी शकल देखना नहीं चाहता।" श्री गुरुदेव इस पत्र को पाकर भी चुप कैसे रह सकते थे। वह प्रेमी ही क्या जो प्रिय की झिड़क से दुःख मान ले। वह तो इसे प्रियतम की एक अदा समझता है। दूसरे भाई के साथ वह भी फतेहगढ़ चले गए। प्रिय ने आपने पास आना मना किया था, किन्तु उसके दरवाज़े पर जाने में तो कोई रोक नहीं थी। वे अपने प्रिय श्री गुरुदेव लाला जी के दरवाज़े पर जाकर बैठ गए। दरवाज़े पर जाना प्रेमी का धर्म है, अन्दर बुलाना प्रिय का स्वभाव। दोनों साथी मोटर से लगभग एक बजे फतेहगढ़ पहुँचे। जून का महीना था। बड़ी गर्मी थी। श्री गुरुदेव कहा करते थे कि मेरे साथी लाला जी के घर में गए, मैं बाहर रहा क्योंकि मेरे लिए आज्ञा नहीं थी। कुछ देर में ही महात्मा जी ने उन सज्जन से पूछा - "क्या श्रीकृष्ण भी आया है ?" और मालूम होने पर वे बीमारी के आलम में भी प्रेम-विह्वल हो बाहर पधारे और बोले - " अन्दर क्यों नहीं आ जाते, बाहर क्यों खड़े हो?" और प्रेमी प्रिय दोनों का हृदय प्रेम के सागर में लबालब भर गया। सच्चे प्रेम में कोई दुराब नहीं होता, कोई अन्तर्विरोध नहीं होता। अतः विश्वास रखो कि प्रियतम श्री गुरुदेव के प्रेम में कभी कोई कमी नहीं हो सकती। हर हाल में उनके प्रति प्रेम व विश्वास और बढ़ता रहे। वह तुम्हें अपनी गोद में स्वयं हाथ पकड़ कर बैठा लेंगे। माथे को सहला देंगे और आशीष द्वारा मालामाल कर देंगे।

इस प्रसंग में श्री दादा गुरुदेव लाला जी महाराज का एक पत्र 'अमृत रस ' से उद्धृत कर रहा हूँ बार-बार पढ़ने की चीज़ है। पत्र संख्या 61 है - किसी प्रेमी भाई को लिखा गया है :

" तुम्हारा यह सोचना कि मैं सख्त दिल हूँ अच्छा मालूम हुआ और खास किस्म का लुफ्त हासिल हुआ/ यह एक प्यार से भरा हुआ जुमला था/ बिना प्यार के ऐसी बात कोई किसी से नहीं कह सकता/ दिल से दिल को राहत है/ मैं तुमको प्यार करता हूँ और तुम मुझको प्यार करते हो/ ज़रा सी बात में खफ़ा हो गए/ तुम यही समझ लो कि यह मेरी एक अदा थी/ मैं तुम्हारी तरफ़ से मुँह फेर लेता हूँ जब तुम मेरी तरफ़ देखते हो और जब मैं तुमको देखता हूँ, तुम भाग जाते हो/ अपने दिल से पूछ लेना कि अगर मैं तुमसे बेपरवाही करूँ तो तुम क्या मुझे छोड़ दोगे ? मैं एवँ से कभी बात भी नहीं करता हूँ/ मैं जानता हूँ कि जो लोग ऐसे हैं जो मुझको कभी नहीं छोड़ सकते, उनसे कुदरतन ऐसा ही बर्ताव होता है/ को कसदन मैंने आजतक तालीम नहीं दी है/ तुम्हारा काम है कि जबरदस्ती जो कुछ मेरे पास है, उसे छीन लो/ और चंद लोग ऐसे हैं कि उनसे हर वक्त खौफ़ रहता है कि कहीं भाग न जावें/ मैं खुद चाहता हूँ कि वह मेरी तरफ़ आवें, वह नहीं चाहते हैं/ इसी से बरबस उनकी दिलजोही रखनी होती है/ अगर ज़रा सी बेपरवाही उनसे दिखाई जावे, वह भाग जावेंगे और अगर तुमको धक्का देकर भी निकाला जावे तो न जाओगे/ जो मेरी याद करते रहते हों या भूल रहे हों, उनको सलाम व दुआ/ "

इस पत्र को हर प्रेमी भाई -बहन अपना जबाब समझें और श्रद्धा एवं विश्वास पूर्वक श्री गुरुदेव का अपने प्रिय से प्रेम रस सदा हृदय में रसपान बेफिक्री और आज़ादी से करते रहें। यह स्वप्न में भी ख्याल में न लावें कि मेरे प्रियतम मुझसे रुष्ट हैं या मेरे साथ नहीं हैं, या उनके हृदय में मेरे लिए जगह नहीं है या उन्हें मेरी याद नहीं है। नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। वह प्रियतम तो सदा तुम्हारे अंगसंग हैं। वह तुमसे बातें करते हैं, बोलते हैं। तुम पर रीझते हैं। उन्हें अपने हृदय मन्दिर में आसन दो और उनके साथ आँख-मिचौली खेलो। दिल का दरवाज़ा खुला रखो। दिल के दरवाज़े पर संशय का किबाड़ मत लगाओ। वह तो सदा प्रतिपल तुम्हारे दरवाज़े पर दस्तक स्वयं दे रहा है। उसे पुकार लो। इसी प्रतीक्षा में जाने कितने युगों से, कितने जन्मों से तुम्हारे आमने-सामने है, तुम्हारे साथ-साथ है। उसकी स्वयं की हसरत है, इच्छा है, कि तुम्हें वह अपने प्यार से भर दे। लेकिन मोहताजी है कि वह स्वयं तुम्हारे पास रहते हुए भी तुम्हारे दिल के अन्दर कैसे जावे ? शायद वहाँ कोई और हो, शायद तुम उसे बाहर निकाल दो। इसलिए उसे बुलाओ तो सही। ऐसा प्रियतम न तुम्हें मिला है, न मिल सकेगा। समय बर्बाद मत करो। मिलन की अनमोल घड़ी गुज़रती जा रही है। उसका नज़राना अर्थात् उसकी प्रेम-भेंट आज क़बूल करो। वह तो अपनी प्रेम-दशा में जाने कब से स्वयं गा रहा है --

" हसरत भरा एक दिल है मुहताज़ का नज़राना "

और बस, उससे प्रेम का रिश्ता कभी न छोड़ो। उस पर विश्वास रखो और उसके हृदय सागर में लबाबाब भरा हुआ प्रेम छक कर पीते रहो। इस प्रेम में ही मधुर शान्ति छिपी है।

श्री गुरुदेव की कृपा से सबके जीवन में उनका यह प्रेम और मधुर शान्ति उतरो।

राम सन्देश - जून, 1972 (श्याम, बक्सर)

00000000

राम सन्देश : नवम्बर-दिसम्बर, 2006।

गुरु महिमा

सर्व गुरुमय जगत

यास्मिन् मत सर्व व सर्व सर्वक्त्या !

सर्वभाव पडातीतं तस्मै श्री गुरवे नमः !!

अर्थ - जिस सत्ता के अन्तर्गत सम्पूर्ण व्यक्त एवं अव्यक्त श्रष्टि है, जो स्वयं ही सब कुछ है, और जो सदैव सर्वत्र सर्वकालों में सर्वत्र रूप से व्यक्त है, जो भावों से अतीत होकर भी सत, प्रेम, दया आदि दिव्य गुणों से युक्त है, उस गुरु तत्व को नमस्कार है।

गुरु की सर्वव्यापकता

गुरु शब्द हर भाव, हर धर्म, हर सम्प्रदाय व सामाजिक जीवन में भी व्यापक रूप से मिलता है। लेकिन भारतीय संस्कृति में गुरु शब्द विशेष महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सामान्यतः हमें जिस विद्या की, जिस बात की, समझ जिससे मिले वो हमारा गुरु कहलाता है। बच्चा माँ से पैदा होकर चलना, बोलना सीखता है तो उसकी पहली गुरु माता ही है। पिता के द्वारा उसका पालन पोषण होता है एवं बालक पिता के आचरण से शिक्षा प्राप्त करता है, अतः उसका दूसरा गुरु पिता हुआ। बालक विद्यालय में जाता है, जो विषय जिस गुरु ने पढ़ाया, वही उसका विद्या- गुरु है। जिस व्यक्ति से कुल परम्परा के सिद्धांतों का ज्ञान प्राप्त हुआ, वह कुलगुरु है। उसी प्रकार जिसके द्वारा गृहस्थ जीवन में दीक्षा ली जाती है, वह दीक्षा- गुरु कहलाता है।

जिससे आत्मा का ज्ञान मिलता है, विवेक मिलता है, उसे आध्यात्म गुरु कहते हैं। जिसकी संगति से निज स्वरूप का बोध ज्ञान होता है, वह सतगुरु है। उदाहरणार्थ - भागवत में दत्तात्रेय जी के 24 गुरु धारण करने की कथा आती है।

(1) पृथ्वी से धैर्य - सभी प्राणी पृथ्वी पर मल-मूत्र त्यागते हैं पर पृथ्वी बिना किसी भेदभाव के सबका पालन पोषण करती है। (2) वायु से निर्लिप्तता (3) आकाश से (4) जल से पवित्रता (5) अग्नि (6) सूर्य (7) पवन (8) समुद्र (9) मधुमक्खी (10) अजगर (11) कबूतर (12) भौरे (13) पतंगे (14) स्त्री (15) चील इत्यादि से शिक्षा प्राप्त कर जीवन में ग्रहण की। इस दृष्टि से सम्पूर्ण जगत में ही गुरु का तत्वज्ञान भरा रूप फैला हुआ है।

कोई कहे कि बच्चे को माँ की ज़रूरत नहीं है, विद्यार्थी को गुरु की ज़रूरत नहीं है, इसे कुछ समय के लिए मान भी लें तो भी आध्यात्म विद्या बिना गुरु प्राप्त नहीं हो सकती। प्रभु राम के भी आध्यात्मिक गुरु गुरु अगस्त थे। सर्व विदित है कि रामायण एक गुरु प्रधान ग्रन्थ है।

रामचरितमानस गुरु वन्दना से ही शुरू हुआ है। धनुष्य यज्ञ में सभी राजा अपने-अपने इष्ट को सुमिरकर धनुष्य को चढ़ाने जाते हैं और लज्जित होते हैं, पर प्रभु राम सर्वसमर्थ होते हुए भी गुरु को मन ही मन सुमिर कर व प्रणाम करके जाते हैं तो सफलीभूत होते हैं।

जब काकभुशुण्डी जी को शिव जी ने श्राप दे दिया तो गुरु ने शंकर की वन्दना करके श्राप को सरल करा दिया। जब प्रभु राम शबरी को नवधा-भक्ति बताते हैं तो उसमें भी कहते हैं कि वे भी गुरु व संत की महिमा का फल हैं।

जब प्रभु राम अगस्त ऋषि से पूछते हैं कि मेरे रहने लायक स्थान बताइये तो वे कहते हैं कि, "आपसे भी अधिक जो गुरु का आदर करता है उसके हृदय में आप वास कीजिये।" संक्षेप में, प्रभु राम के तीनों गुरुओं - कुल-गुरु वशिष्ठ, कर्म-गुरु विश्वामित्र एवं आध्यात्म- गुरु अगस्त की गाथाओं से रामायण भरी पड़ी है।

इसी प्रकार जगद्गुरु कृष्णा की गाथाओं से श्रीमद्भागवद भरा पड़ा है। केवल रामायण, महाभारत व गीता ही नहीं सभी संतों ने गुरु-महिमा का वर्णन किया है -

गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काकू लागूँ पाँव !

बलिहारी वा गुरु की जिन गोविन्द दियो मिलाय !

मन मेरा पंक्षी भयो उड़कर चला अकास !

साहब लोक खाली पड़ा, साहब संतन पास !

नाहं सामि बैकुण्ठे //////////////

कबीर वे नर अंध हैं, गुरु को कहते और !

हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहीं ठौर !

सहजोबाई ने तो अति ही कर दी

राम तजूँ पर गुरु न बिसाऊँ,

गुरु के सामनन हरि को निहारूँ !

चरण दास पर तन मन वारूँ,

गुरु को न तजूँ हरि को तज डारूँ !!

शीश दिए जो गुरु मिले तो भी सस्ता जान !!

गुरु संगत से लाभ

सत्संग में आने का बाद श्रद्धा-विश्वास बढ़ता जा रहा है या घटा है। अगर घटा है तो उसका कारण ढूँढें। अगर अपने में दोष दीखें तो रोयें, गिड़गिड़ायें और भगवान से प्रार्थना करें। अगर गुरु में दोष दिखने लगे तो उसे अपने ही मन का ऐब समझें। परमात्मा गुण-दोष से रहित हैं और गुरु परमात्मा का साकार स्वरूप है। इसीलिए वह भी गुण-दोषों से रहित है।

महापुरुषों का वचन है कि गुरु को यदि कोई भगवान से पृथक समझता है तो वह फ़कीर नास्तिक है। समर्पित होकर गुरु की आज्ञा में चलना लाभप्रद होता है। मनुष्य का परम लक्ष्य आत्म-ज्ञान या आत्म-चेतना प्राप्त करना है। उसके लिए आवश्यक है कि किसी आत्मज्ञानी गुरु की तलाश करें। जब तक सच्चा गुरु या रास्ते का सच्चा जानकार नहीं मिले, उसे नहीं अपनायें।

अगर भीतर में जिज्ञासा या तड़प तीव्र होगी तो मार्गदर्शक अवश्य मिलेगा। भूख लगने पर अन्न के रूप में, प्यास लगने पर जल, गर्मी लगने पर छाया, व ठंडक लगने पर वस्त्र के रूप में एवं भोगी होने पर भोग के रूप में वे ही आते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि तीव्र तड़प होने पर परमात्मा ही गुरु रूप में मिल जाते हैं। ऐसे आत्मज्ञानी के मिल जाने पर उसका दामन कसकर पकड़ें। ऐसे व्यक्ति पर पूर्ण श्रद्धा और सौ प्रतिशत विश्वास रखें।

दिव्य दृष्टि दाता : गुरु

दिव्य दृष्टि केवल गुरु से ही प्राप्त होती है जिससे हम उस चेतन पुरुष का दर्शन कर सकते हैं। देखते तो हम अब भी हैं पर पहचान तभी सकते हैं जब गुरु पहचान करा दें। हम उसे देखें या न देखें, वो हमें हमेशा देख रहा है। जिस दिन गुरु का प्रकाश हमारे अन्तर में आ जावेगा, उसी दिन से मनुष्य मनुष्य हो जायेगा।

स्वामी रामतीर्थ को जब दिव्य दृष्टि खुली तो वे चिल्ला कर कहने लगे - " जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है "।

गुरु-भक्ति में निरन्तर प्रयास की अमिट महिमा है

गुरु-कृपा का दूसरा सोपान है - निरन्तर प्रयास। कहा गया है 'करत करत अभ्यास के जड़मति होहिं सुजान'। निरन्तर प्रयास एवं अभ्यास से जड़बुद्धि का जीव भी चतुर एवं प्रवीण बन जाता है। संस्कृत में बोपदेव की एक कहानी आयी है। ब्राह्मण कुलमें जन्म लेकर बोपदेव मूर्ख बने रहे। युवावस्था में उन्हें अपने ऊपर ग्लानि होने लगी। सभी उन पर हँसते रहे, व्यंग धारणा से भरते रहे। एक दिन अपनी इसी ग्लानि की अवस्था में बोपदेव ने पनघट पर रक्खे पत्थर को मिट्टी के घड़ों की रगड़ से घिसते देखा। उसी क्षण उन्हें ज्ञान हो गया। अन्तर्मथन शुरू हो गया। यदि मिट्टी के घड़ों की निरन्तर रगड़ से पत्थर तक घिस सकता है तो मेरा कोमल मस्तिष्क निरन्तर प्रयास से क्यों नहीं बदल सकता ? इस विचारधारा ने उन्हें इतना भाव प्रवण बना दिया कि वे उसी दिन से अध्ययन में प्रयास रत हो गए। बस फिर क्या था ? दुनियाँ में मनुष्य के लिए असम्भव कोई वस्तु नहीं है। रात-दिन के अथक परिश्रम से मूर्ख बोपदेव, सबकी हँसी एवं उलाहना के पात्र बोपदेव, महापण्डित एवं सर्वज्ञानी बोपदेव बन गए। सब उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। मुहम्मद गज़नी 17-वीं बार सोमनाथ के मन्दिर की चढ़ाई में विजयी हुआ लेकिन उसने हिम्मत नहीं हारी थी। पूर्ण मनोबल के साथ पुनः प्रयास में लगा रहा और अंत में विजय पाई। इतिहास साक्षी है, धर्म ग्रन्थ साक्षी हैं कि निरन्तर प्रयास से सभी अभिलषित वस्तुएं प्राप्त हो जाती हैं। एक चींटी की कहानी हम सब बचपन में पढ़ चुके हैं। चींटी दीवार पर चढ़ती थी और गिर जाती थी। 21-वीं बार में वह दीवार पर चढ़ पायी। जब एक चींटी में इतना धैर्य, मनोबल एवं निरन्तर प्रयास का संकल्प है तो फिर मानव अपनी असफलताओं में मौन धारण कैसे कर ले? उसे चींटियों से, गज़नी से, बोपदेव से, तथा ऐसे अनेक पत्रों के जीवन का रहस्य जानना चाहिए तथा इस रहस्य को अपने जीवन में उतारने की प्रतिज्ञा करनी चाहिए - **Try and try again, you will succeed at last!** कोशिश करने की धुन होगी तो सफलता अवश्य चूम लेगी।

गुरु-भक्ति में भी इस निरन्तर प्रयास की अमिट महिमा है। इसके बिना गुरु-भक्ति जीवन में उतर नहीं पाती। अब एक प्रश्न अति सहज रूप में सामने स्वयं आता है कि गुरु-भक्ति में निरन्तर प्रयास का क्या रहस्य है ? गुरु-भक्ति के लिए निरन्तर प्रयास क्या हो ? यह एक जीवित प्रश्न है और इसे समझ लेना अति आवश्यक है।

गुरु के प्रति श्रद्धा, विश्वास एवं प्रेम की भावना रखना ही गुरु-भक्ति है। इसके लिए दो बातें आवश्यक हैं। पहली बात

है - अनुराग होना। यदि गुरु के प्रति अनुराग होगा तो श्रद्धा और विश्वास के भाव स्वयं पुष्ट होते जायेंगे। जीव के हृदय में असंख्य इच्छाएँ भरी रहती हैं, किन्तु सारी इच्छाओं और वासनाओं के साथ यदि एक सच्ची चाह गुरु दर्शनों की भी है और उससे मिलकर एक हो जाने की है तो धीरे-धीरे सारी जागतिक इच्छाएँ एवं सारी वासनाएँ मिट जाती हैं। गुरु दर्शन की चाह सच्ची होगी तो उसका परमार्थ निखरता जायेगा। अतः जीव का असली प्रयास गुरु दर्शनों के लिए होना चाहिए। फिर यह भी आवश्यक है कि गुरु-प्राप्ति की चाह किसी साँसारिक स्वार्थ के कारण न हो, गुरु धारणा की अभिलाषा गुरु को अपने हृदय में उतारने के लिए हो, उनसे अन्य कुछ माँगने के लिए नहीं। यदि जीव अपने स्वार्थ की संतुष्टि के लिए गुरु की लालसा करता है, तो यह उसका सच्चा प्रयास नहीं है और इससे गुरु-भक्ति हृदय में नहीं पनप सकती। गुरु से मिलने की बेकली हो, वह गुरु दर्शनों के बिना रह न सके। हम घर से कहीं बाहर दस पाँच दिनों की यात्रा पर जाते हैं तो घर के बच्चों की याद बनी रहती है। जहाँ भी रहते हैं अपने परिचितों से कहने लगते हैं, " मुझे बच्चों की याद आती है।

वह छोटा-छोटा बच्चा लगता है मेरी आँखों के सामने तुतलाती बोली में कुछ कह रहा हो। बड़ा सुन्दर है वह। होशियार भी बहुत ज़्यादा है, सबकी नकल एक मिनिट में उतार करके रख देता है,"

आदि-आदि बच्चों की बातों और स्मृतियों से अपने जी को बहलाते हैं, और अन्त में सब कुछ छोड़कर शीघ्र घर वापस लौट आने की धुन सवार हो जाती है। हम एक अपनी बात कहते हैं। जब कभी भी श्री गुरुदेव के चरणों में जाते और वहाँ कुछ दिन रहना पड़ता तो घर की याद आने लगती। घर से मन ही मन प्रतिज्ञा करके जाता कि इस बार दो एक माह वहीं रहूँगा किन्तु कुछ दिनों बाद भाव बदल जाता। और लोगों की याद इतनी बढ़ जाती कि गुरुदेव से लौटने की आज्ञा मांग लेता। यह गुरु प्रेम कहाँ था ? अपने प्यारों का मोह गुरुदेव के सानिध्य से बढ़कर उभर आता। प्रयास यह होना चाहिए कि घर के लोगों, सम्बन्धियों एवं अपने प्रियजनों के घरे में रहते हुए भी उसी प्रकार की बेकली अपने गुरु से मिलने की बनी रहे। गुरुजनों के दर्शन की इस बेकली के लिए निरन्तर प्रयास होता रहे तो गुरु-भक्ति स्वयं हृदय में उतर जाएगी। सभी प्रियजन हैं। किन्तु सबको छोड़कर गुरु दर्शनों के लिए चल पड़ें। उनकी याद में उनकी महिमा गाता रहे तथा उन्हें ही अपने जीवन के हर क्षेत्र में देखते रहें।

जिसने जगत से उपरामता प्राप्त कर ली उसी को सही मायनों में गुरु दर्शन होता है। दुनियाँ की भी इच्छा हो और गुरु दर्शनों की अभिलाषा हो, यह पागलपन है। अन्तर में जगत की आशाओं को काटना होगा। एक संत ने कहा है कि जब जीव की मृत्यु होती है तो वह दस दिन तक अपने शरीर में वर्तमान रहता है और पिशाच की क्रियाएं करता है। स्थूल शरीर तो नहीं है अतः अपनी सारी इच्छाओं को पूरा करने के लिए तडफता रहता है। दसवें दिन पुरोहित अपनी इच्छा-शक्ति से उस योनि से उतारकर पितृलोक में पहुँचाते हैं। प्राचीन युग में पुरोहित वह होता था जो दिव्य लोक का अधिकारी हो। वह सद्गुरु की भाँति था। पितृलोक प्राप्ति की क्रियाएँ समाप्त हो जाती हैं तब उस जीव के जितने सगे-सम्बन्धी वहाँ वर्तमान रहते हैं सभी उससे अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेते हैं और तिलांजलि दे देते हैं। इसका आशय यह है कि आज से तुमको हम लोगों से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। इस प्रकार सबको उन आत्माओं से सम्बन्ध तोड़ देने चाहिए। इसी में दोनों का हित है। श्री गुरुदेव ने एक बार मुझे लिखा था - " गुजरे हुए के साथ तिनका तोड़ देना चाहिए। यदि सम्बन्ध नहीं तोडा और याद बाक़ी रही तो दोनों का अहित है। यदि वह ऊँचे लोक की आत्मा है और सम्बन्ध शेष रह गया तो उसे पुनः जन्म धारण करना पड़ेगा। इसलिए चाहिए कि सम्बन्ध शेष न रखा जाये और तिनका तोड़ दिया जाये।" इसी प्रकार जब जगत और जगत के पदार्थों से नाता टूट जायेगा और उसको तिलांजली दे दी जाएगी तभी सच्ची गुरु भक्ति पनपेगी और परमार्थ की प्राप्ति हो सकेगी।

जगत की इच्छाओं से यह सम्बन्ध-विच्छेद एक दिन की बात नहीं। यह धीरे-धीरे सफल होता है। कसी कवि ने कहा है -

"धीरे धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय

माली सींचै सौ घड़ा, ऋतु आये फल होय ।"

माली पौधे को लगाता है, जाने कितने दिनों तक उसको सींचता रहता है तब पौधे में फूल निकलते हैं। इसी प्रकार निरन्तर अध्ययन से धीरे-धीरे मन का घाट बदलता है। जीव शरीर मन आत्मा का मिश्रण है। आत्मा परमात्मा से मिलना चाहती है और उससे मिलकर एक हो जाना ही उसका स्वधर्म है। **As the rivulet is restless to mingle with Infinite ocean, so the soul of the man** । नदी का जल सागर से मिलने को उत्सुक बहा जा रहा है। वह सागर

संगम में ही सुख मानता है। उससे मिल अपने अस्तित्व का विलयन ही उसका परम लक्ष्य है। प्रेमी अपने प्रिय मिलन की कल्पना में ही मस्त रहता है। लेकिन यह शाश्वत मिलन एक ही दिन की बात नहीं। शायर कहता है - "खिले हैं फूल जो रोई है शबनम रात भर"। शबनम रात भर रोती रही तब कहीं जाकर फूल खिल पाए। अतः आत्मा अपनी शक्ति एवं धार मन को देना धीरे-धीरे कम करती जाय तो मन अपने आप ढीला पड़ता जायेगा और आत्मा उभरती जाएगी। जितनी ही आत्मा मन से उपराम होती जाएगी, मन अपनी इच्छाओं के भोग हेतु आत्मा की ओर से शक्ति नहीं पा सकेगा। इस प्रकार वह दीन आधीन एवं बेसहारा हो जायेगा। वह टूटता जायेगा और कोमल बनता जायेगा। अब शान्त बना रहना उसका स्वभाव हो जायेगा। जब मन शान्त बना रहेगा तब गुरु भक्ति उभरेगी और पूर्ण होगी। इसलिए धीरे-धीरे निरन्तर प्रयास द्वारा मन को आत्मा के अधीन करना है। आत्मा को असली रस परमात्मा की याद में मिलता है। अतः मन से स्वतंत्र होकर वह आनन्द विभोर हो उठती है। इस रहस्य को हृदयंगम करना चाहिए। इस जगत से तिनका तोड़ना है और प्रभु रस पीना है।

इस प्रभु प्रेम रस पान में मन बहुत काँटा है, बाधक है। उससे सदा सचेत रहें। साधक लाख कोशिश करता है किन्तु संध्या में मन परेशान कर देता है। किन्तु साधक समझ ले कि वह मन नहीं है, आत्मा है। अतः तटस्थ हो जाये और एक दर्शक की भाँति मन की चालों को देखता रहे। जब वह अपने को आत्मा समझेगा और मन की हरकतों को देखने लगेगा तो थोड़ी देर में मन स्वयं शान्त हो जायेगा क्योंकि अब उसे आत्मा से शक्ति नहीं मिल पायेगी। आत्मा तो मन से अलग हो मन का तमाशा स्वयं देख रही है। जब तक आत्मा अपने को मन से न्यारा और भिन्न न समझेगी तब तक वह मन के अंकुश में फंसी रहेगी। उसके मायाजाल से निकलना असम्भव हो जायेगा। अतः मन का निर्मल होना ही सच्ची गुरु भक्ति है। मन शक्तिहीन होकर आत्मा के आधीन होकर शान्त बन जाता है और वह निर्मल हो जाता है। अतः आत्मा को मन से न्यारा समझना तथा मन को शान्त और निर्मल करना ही गुरु भक्ति के लिए सच्चा प्रयास है।

साधक कोशिश करता है किन्तु गिर जाता है। यह उसका दोष नहीं, उसके संस्कारों का वेग है जो सर पर जादू की तरह बोलता है। उसे दुःख होता है। वह पश्चाताप करता है। अपने आप पर उसे ग्लानि होती है। वह आँसुओं से अपने आपको सराबोर पाता है। अपने प्रियतम प्रभु के सामने बैठ कर रोता है। रने के सिवा और कोई उपाय उसे दीखता ही नहीं। वह निराशाओं में गर्क हुआ जाता है फिर भी आशा की मृग-मरीचिका सामने से हटती नहीं। जहाँ से ठोकर मिलती है वहीं प्रार्थना की भीख माँगता है। जो वस्तु मिलती नहीं, मिलने की सम्भावना नहीं, उसी पर आँख टिकाये रहता है। ऐसी स्थिति प्रायः सब पर आती है। दुनियाँ काजल की कोठरी है। यहाँ आकर इच्छाओं से उपराम हो जाना बड़ा ही कठिन है। बिरले संत ही ऐसा कर पाते हैं। ऋषि-मुनि भी इस जगत के दलदल में फंसते रहे हैं। कामना शून्य हो जाना है - यह करने में दुर्गम है। ऐसी ही परिस्थिति में मैं गुज़र रहा था। एक ओर ग्लानि और पश्चाताप के आँसू आँखों से बहते रहे, किन्तु दूसरी ओर हृदय-कलिका पिघलती रही। इस द्वन्द्व में मैंने श्री गुरुदेव को १९६७ में एक बड़ा ही मार्मिक पत्र लिखा- "अपने विषय में क्या लिखूँ? स्कूल में मन नहीं लगा, कॉलेज में होकर भी नहीं हो पाया। दूर के लिए हमने कहीं कोशिश नहीं की और प्रैक्टिस (होमियोपैथी) अभी नहीं के बराबर है। सोचता हूँ, और कभी-कभी सोचता ही रह जाता हूँ। कोई समाधान नहीं मिलता। अलावे जब कभी माँ या कभी और कोई मित्र या सम्बन्धी मेरी बेकारी की हालत में कुछ कह देते हैं तो दिल और घबरा जाता है। मुझे तो दुनियाँ की कोई खुशी मिल ही नहीं पाई। हर वक्त दिल टूटता ही गया। सत्संग कहता है जगत से वैराग्य सीखो, किन्तु वह मुझ जैसे दुनियाँदार के लिए आसान और सम्भव नहीं दीख पड़ता। तो ऐसे में मैं क्या करूँ? अजीब परेशानी है। दुनियाँ अपनी ओर घेरती है। इसे छोड़ने के लायक पुख्ता तो हूँ नहीं और

ईश्वर की कृपा से छुड़ा दिया जाने पर रहा सहा दिल और धैर्य भी टूट जाता है। उसका बयान क्या करूँ। वह केवल दिल ही जानता है। कुछ दिन पूर्व मेरे छोटे भाई की आकस्मिक मृत्यु हुई थी जिसकी मेरे दिल पर गहरी चोट थी। मन को साधना चाहता हूँ। अन्तर में सबसे दूर रहना चाहता हूँ, किन्तु वही शेर याद आता है -

" मस्जिद तो बना दी शब भर में
ईमाँ की हरारत वालों ने ,
मन अपना पुराना पापी है
बरसों से नुमाज़ी बन न सका "

आखिर इस कशमकश और परेशानी के आलम में क्या करूँ ?

कृपानिधान श्री गुरुदेव का आशीर्वाद भरा प्रेम-पत्र मिला। " अज़ीज़म, दुआ। ॥॥॥ अभी आपको दुकान करते हुए कितने दिन हुए जो उससे निराश हो गए। इसमें सब्र की ज़रूरत है। कोशिश बराबर किये जाओ, कामयाबी अवश्य होगी। अगर स्कूल और कॉलेज में तबियत नहीं लगी तो क्या बात हो गयी। क्या यही एक पेट भरने का साधन है ? खेती कराओ और उसे देखो-भालो। उसे तरक्की दो। परमार्थ दुनियाँ जोड़ना नहीं सिखाता। दुनियाँ में रहो मगर दुनियाँ के होकर मत रहो। सच्चाई पर चलो। उसकी दुनियाँ समझ कर सेवा के रूप में काम करो। दुनियाँ को अपना मत समझो। ॥॥॥ अगर मुमकिन हो तो आओ। मेरी तबियत मिलने को चाहती है।"

आपने पुनः लिखा - " दुनियावी ख्वाहिशात जो दबाने पर भी बार-बार उठें और न दबें और अगर धर्म के खिलाफ न हों, तो उन्हें धर्म और ईश्वर का सहारा लेकर पूरा करना चाहिए। अगर पूरी न हों तो भी ईश्वर की कृपा समझनी चाहिए क्योंकि ख्वाहिशें अगर पूरी हो जातीं तो नुकसान होता, क्योंकि ईश्वर हमारा सच्चा हितेषी है और ज्ञान रखता है कि किसमें हमारा फ़ायदा है और किसमें नुकसान, इसीलिए उसने हमें ये चीज़ें नहीं दीं। अगर कोई धर्म से गिरकर चीज़ें हासिल करेगा तो कई जन्मों के लिए जानवर की दशा में चला जाता है।"

श्री गुरुदेव की प्रेम भरी इन अनमोल बातों को हृदयंगम करना चाहिए और उन्हें अपने जीवन में उतारना चाहिए। इससे ही जीव का उद्धार सम्भव है। गिरते पड़ते रहो, लेकिन गुरु की वाणी को जीवन में उतारने का निरन्तर प्रयास करते रहो। यही सच्ची गुरु-भक्ति है।

एक भाई की नौकरी छूट गयी। कोई सहारा न रहा। जगत के जितने सहारे थे सभी विफल रहे। जिस पर भरोसा था उसने चुप्पी साध ली। घोर निराशा के क्षणों में श्री गुरुदेव की कृपावश दो एक सज्जन अनायास मिल गए और स्वयं मदद करने लगे। ऐसी स्थिति में श्री गुरुदेव से प्रार्थना के सिवा दूसरा चारा ही क्या था ? उन्होंने अपने वर्तमान आचार्य की सेवा में अपनी स्थिति निवेदित की। " मैं बहुत बड़ा पापी हूँ इसलिए यह दुःख का पहाड़ सीने पर आ गिरा। मालूम नहीं मेरा पाप कितना विशाल और गंभीर है नासूर की तरह बढ़ता ही जाता है, सूखने का नाम ही नहीं लेता। मेरा रोम-रोम

पापों और गुनाहों से भरा पड़ा है। उन्हें याद कर रोता हूँ, पश्चाताप करता हूँ, कसमें खाता हूँ किन्तु फिर भी छूटते नहीं। अब मुझे अपने पर भरोसा नहीं। किन्तु इस जीवन को आप लोगों के सहारे छोड़ देता हूँ।

भक्त की प्रार्थना भगवान के हृदय को झकझोर देती है। आपने उत्तर दिया - " परमात्मा आपको सुखी रखे। प्रेमपत्र मिला। संसार में ऐसा कौन है जिससे पाप न हुआ हो? भक्त लोग उसकी कृपा पर दृष्टि लगाए रहते हैं। दुनियाँ से आशा न लगाएं। ईश्वर से निराश न हों। वह वही करता है जिसमें हमारा हित होता है।" बस, जैसे कोई बड़ी जड़ मिल गयी। साधक अपनी ओर से, जगत की ओर से, उदासीन हो जाय ओर प्रभु की ओर, गुरु की ओर, चातकी दृष्टि लगाए रहे। अपने गुरु से रोता रहे और आँसुओं में सराबोर हो जाय। जीवन की सच्चाई अपने को देखने में है और यदा-कदा उसे साफ करते रहने में है। इस सफाई का सरल उपाय यह है कि वह अपने को देखना बंद करके गुरु को देखना शुरू कर दे तथा सतत उसे ही देखता रहे। बस, सत्संगी भाई-बहिन अपनी करतूतें, अपने कर्मों पर हमेशा दृष्टि रख हताश एवं निराश न हों। वे इससे हटकर अपने श्री गुरुदेव को सदा देखते रहें। बंद आँखों तथा खुली आँखों उन्हीं को देखते रहने का सतत प्रयास करते रहें। यही दृष्टि सच्ची गुरु-भक्ति की जननी है। श्री गुरुदेव की कृपा से वह दीन और दुनियाँ - दोनों से अघा जायेगा। उसे दीन तो मिलेगा ही, दुनियाँ भी उसकी स्वयं वे ही पूरा करेंगे।

" फिक्रे उकबा करके नाहक वक्त क्यों ज़ाया करूँ

उनको खुद ही फिक्र होगी, जिनका कहलाता हूँ मैं !"

हाँ, भरोसा शुद्ध भाव से, सच्चे हृदय से, केवल उन्हीं का हो। उन्हीं पर अपना भार सौंप दें। अपनी बुद्धि न लगाएं। एकलव्य ने किसी और को नहीं देखा। केवल अपने गुरु के विश्वास और भरोसे पर जीता रहा। वह उन्हीं ही हृदय में बसाकर निरन्तर प्रयास करता रहा और उसने अपने गुरुदेव से सब कुछ ले लिया। सच्चे शुद्ध भाव से गुरु में एकाग्र चित होकर निरन्तर प्रयास करते रहने से भक्त अपने गुरु की सम्पूर्ण कला, उसके सारे गुण, अपने अन्दर समाहित कर लेता है। वह जैसे गुरुदेव से स्वयं सब कुछ ले लेता है। अपने गुरु में दत्त चित हो पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वास के साथ निरन्तर प्रयास करता रहे तो वह अपने गुरु को खुशी-खुशी स्वयं अपने में उतार लेगा।

राम सन्देश - August 1971

(डॉ। श्याम- बक्सर)

विद्वत् विश्लेषण

गोपियों की चीरहरण लीला की प्रासंगिकता

पूज्य गुरुदेव, डॉ. करतारसिंह जी साहिब, ने अपने प्रवचनों में कई बार कहा है कि "आत्मा से, आत्मा को, आत्मा में देखें" आत्मा की यह ध्वनि सुनते ही आश्चर्य में पड़ जाता हूँ कि "मैं न देवता हूँ, न गन्धर्व हूँ, न दैत्य हूँ, न दानव या यक्ष हूँ, बल्कि सम्पूर्ण तत्वों से परे 'ब्रह्म तत्व' हूँ जो ईश्वर, हिरण्यगर्भ एवं वैश्वानर आदि के नाम से जाने जाते हैं।" वास्तव में आत्मा शरीर को जीवित रखने का गुण प्रदान करती है। परमात्मा जीवात्मा को दिव्य तेज देता है और जीवात्मा के दैवी स्वभाव का पोषण करता है।

इन्हीं भावों से प्रेरित होकर दिव्य-प्रेम की मूर्त स्वरूपा राधा एवं गोपियों की जीवात्मा स्वरूप में वर्णन करते हुए इनके पंचकोषों, वृत्तियों एवं संस्कारों के आवरणों को चुराने वाले, दिव्य प्रेम के मूर्त-स्वरूपा हमारे दादागुरु परमात्मा पूज्य डॉ. श्रीकृष्ण भटनागर जी की चीरहरण लीला का वर्णन करने की मुझ तुच्छ अकिंचन की अभिलाषा है, ऐसी ही प्रेरणा हुई है।

गोपियों की भक्ति के चार स्वरूप दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर हैं जिनकी आधार भूमि शान्त रस है। शान्त रस द्वारा मन, इन्द्रियाँ संयमपूर्ण होकर दास्य भक्ति की योग्यता को प्राप्त होती है। इनमें सर्वश्रेष्ठ सर्वशिरोमणि भक्ति मधुरा भक्ति है जो अनिर्वचनीय, अलौकिक और दिव्य है जिसे समर्थ सद्गुरु ही प्रकाशित और अनुभवगम्य करा सकता है।

ब्रज सुन्दरियों की मधुर भक्ति स्वसुख एवं वासना से सर्वथा शून्य रही है। किन्तु रीति-काल के कवियों ने कुछ दोष दर्शन का दाग उनमें लगा दिया है जिनका प्रभाव समाज पर भी पड़ा है, क्योंकि साहित्य समाज का दर्पण होता है। एक अनन्य मधुर भक्ति प्रदर्शित करने वाली ब्रजसुन्दरी के प्रेम की पराकाष्ठा क्या है - इस भाव को एक श्लोक में बड़ी सुन्दरता से व्यक्त किया गया है :

एकस्य श्रुतमेव लुम्पति भक्ति कृष्णोतिनामाक्षरं !!!!!!!!!!!!!!! इस पूर्ण श्लोक का भावार्थ है कि

" एक के 'कृष्ण' नाम के अक्षर कानों में पड़ते ही मेरे मन को लूट लेते हैं ; दूसरे की - वंशीध्वनि, घनीभूत उन्माद - परम्परा की प्राप्ति करा देती है और तीसरे स्निग्ध मेघश्याम कान्तिवाला पुरुष तो एक बार के दर्शन से मेरे हृदय मन्दिर में आ बसा है। छिः! कितने कष्ट की बात है कि तीन पुरुषों में मेरा प्रेम हो गया है। इस अवस्था में मर जाना ही मेरे लिए श्रेयस्कर है। "

श्रीकृष्ण जीव के एकमात्र प्राप्तव्य साक्षात् हैं। जिस प्रकार इस मर्त्यजीवन में शरीर और आत्मा सुखमय साम्राज्य में रह सकते हैं, ठीक उसी प्रकार यदि जीवात्मा परमात्मा के सुखमय साम्राज्य में रहे और उसमें कोई अपूर्णता, अज्ञान अथवा अन्य मानसिकता न हो तो यही मोक्ष है, यही पवित्रता एवं मधुरतम आत्ममय जीवन 'पंचम पुरुषार्थ' है।

भक्तों की दृष्टि से अनादिकाल से अनंत काल तक भगवान श्रीकृष्ण की लीला-विलास चलता रहता है। साधकों पर कृपा करके भगवान उनके अन्तर्मन को और अनादिकाल से संचित संस्कार पटल को विशुद्ध करते रहते हैं। असल में भगवान या समर्थ सद्गुरु तो सर्वशक्तिमान हैं, पर जीवों का भी कुछ कर्तव्य होता है। उसी कर्तव्य को बतलाने के लिए एवं साधना पथ पर चलाने के लिए भगवान या सद्गुरु अवतरित होकर लीला किया करते हैं और कहते हैं "उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत !" किन्तु हम सोये रहें तो उनका क्या दोष है ।

हेमन्त के पहले महीने मार्गशीर्ष (अगहन) में कात्यायनी व्रत करती हुई, श्रीकृष्ण को प्रीतम स्वरूप में पाने की लालसा सँजोये गोपियों की साधना प्रारम्भ हुई। श्रीकृष्ण की आयु तब छः वर्ष थी। विलम्ब गोपियों के लिए असह्य था। जाड़े के दिन थे। प्रातःकाल ही शरीर की परवाह किये बिना बहुत सी कुमारी ग्वालिनें एक साथ यमुना स्नान के लिए चल दीं। उनमें ईर्ष्या-द्वेष नहीं था। वे घर में हविष्यान्न का ही भोजन करतीं। उन्होंने श्रीकृष्ण का नाम कीर्तन करते हुए अपना कुल, परिवार, धर्मसंकोच और व्यक्तित्व भगवान के चरणों में सर्वथा समर्पण कर दिया था। निरावरण (निर्वस्त्र) रूप से श्रीकृष्ण के सामने जाने में थोड़ी झिझक थी। उनकी इस झिझक को दूर करने के लिए उनका आवरण (चीर) हर लेना जरूरी था।

दूसरी ओर बालक कृष्ण ने नग्न-स्नान की कुप्रथा को नष्ट करने के लिए अपने साथी-संगी ग्वालबालों के साथ चीर-हरण किया। गोपियाँ शास्त्र-मर्यादा और परम्परागत सनातन मर्यादा का उल्लंघन करके नग्न स्नान करती थीं। उनकी यह क्रिया चंचलता, उच्छ्रलतापूर्वक अज्ञानपूर्ण तथा अविवेकी वृत्तियों से होती थी। चीरहरण करके भगवान ने गोपियों को लज्जित करके इसका प्रायश्चित्त करवाया था। हृदय की निष्कपटता, सच्चाई और सच्चा प्रेम भी पारम्परिक विधि के नियमों या प्रथा के अतिक्रमण को दूषित या अशोभनीय कर देता है।

साधक अपनी शक्ति से, अपने बल और संकल्प से केवल अपने निश्चय से पूर्ण समर्पण नहीं कर सकता। समर्पण भी एक क्रिया है और उसका करने वाला प्रायः असमर्पित ही रह जाता है। अन्तरात्मा की पूर्ण समर्पण की तैयारी तो भगवान पूर्ण कराते हैं। भगवान कृष्ण ने गीता में स्वयं कहा है कि ध्यान से सम्पूर्ण कर्मों के फल का त्याग श्रेष्ठ है। क्योंकि इष्ट (सद्गुरु) के प्रति समर्पण के साथ ही योग दृष्टि रखते हुए कर्मफल का त्याग करने से, उनके योगक्षेम की जिम्मेदारी इष्ट की हो जाती है।

सिद्ध लाभ के समीप पहुँची हुई नित्यसिद्ध गोपियाँ भगवान की इच्छानुसार दिव्य-लीला में सहयोग प्रदान करती हैं। समस्त भावों के एकमात्र ज्ञाता श्रीकृष्ण बाँसुरी बजाकर उन्हें आकृष्ट करते हैं। जो कुछ उनके हृदय में बचे-खुचे पुराने संस्कार हैं उन्हें मानो धो डालने के लिए साधना में लगाते हैं। श्रीकृष्ण गोपियों के वस्त्रों के रूप में उनके समस्त संस्कारों के आवरण अपने हाथ में लेकर पास ही ग्वालबालों के साथ कदम्ब बृक्ष पर चढ़ गये। गोपियाँ जल में सर्वव्यापक, सर्वदर्शी भगवान श्रीकृष्ण से अपने को गुप्त समझ रही थीं। वे मानो इस तत्व को भूल गयीं थीं कि श्रीकृष्ण जल में ही नहीं, स्वयं जल रूप में भी वे ही हैं। उनके पुराने संस्कार श्रीकृष्ण के सम्मुख जाने में झिझक के कारण प्रेमियों को परस्पर बाधक हो रहे थे। वैसे तो वे श्रीकृष्ण के लिए सब कुछ भूल गयी थीं, परन्तु उनके संस्कार बीच में एक परदा रखना चाहते थे। प्रेम की प्रकृति है - प्रेमियों का परस्पर सर्वथा व्यवधान एवं संकोच रहित, अबाध और अनंत मिलना।

भारत की आध्यात्म विद्या सीखने के लिए दुनियाँ का भ्रमण करते हुआ विश्व- विख्यात हस्ती वाला जहाँगशत आया था जिसे संत कबीर ने अच्छी तरह समझाया था कि परदा आध्यात्म की दृष्टि से क्या होता है।

परदा या रहस्य रखना भी प्रकृति का एक विशेष गुण है। रहस्य का परदा उठाना प्रत्येक के सामने ठीक नहीं है किन्तु जिसके लिए परदा उठाया जाता है वे भी स्वयं परदेदार बने रहते हैं, अर्थात् रहस्य के गूढ़ (गुप्त) रखने की कला में दोष नहीं आने देते, जैसे कि पति-पत्नी की परस्पर बेपर्दगी के बावजूद भी पुरुष स्त्री की और स्त्री पुरुष की परदेदारी बनी रहती है - यह सिद्धांत है। पुत्र से माँ परदा नहीं करती, अपने शरीर के कुछ अंग उसके लिए खोल देती है। फिर भी पुत्र अपनी माँ का परदेदार बना रहता है। परदे की बात हर जगह परदे में ही की जाती है।

आत्मा शरीर के अन्दर परदों में छिपी रहती है। यह परदे आत्मा के पुजारियों के लिए ही उठाये या फाड़े जाते हैं। आत्मा का ज्ञानी उसी दशा का वर्णन दूसरों पर नहीं कर सकता, और चाहे भी तो उसका वर्णन नहीं हो सकता, और न कोई उसका वर्णन कर पाता है - न कोई उस स्थिति पर पहुँचे बिना समझ ही सकता है। गोपियाँ भी इसी प्रकार आत्मस्थित थीं।

श्रीकृष्ण और गोपियों के परस्पर मधुर वार्तालाप से आत्मा, जीवात्मा एवं परमात्मा की बात कितनी सरलता एवं मधुरता से समझायी गयी है। श्रीकृष्ण ने कहा - " मुझसे अनन्य प्रेम करनेवाली गोपियों, एक बार, केवल एक बार, अपने सर्वस्व को और अपने आपे को भी भूलकर मेरे पास आओ तो सही ! तुम्हारे हृदय में जो अव्यक्त त्याग है, एक क्षण के लिए उसे व्यक्त तो करो ! क्या तुम मेरे लिए इतना भी नहीं कर सकती हो ?"

गोपियों ने कहा - " हे माधव ! हम अपने को कहाँ और कैसे भूलें ? हमारी जन्म-जन्म की धारणायें भूलने दें, तब न ? इस संसार के अगाध जल में नग्न हैं, कंठ तक डूबी हैं। हम आना चाहती हैं तो भी नहीं आ पाती। हे श्याम सुन्दर ! प्राणों के प्राण ! हमारे हृदय तुम्हारे सामने उन्मुक्त हैं। हम तुम्हारी दासियाँ हैं, तुम्हारी आज्ञाओं का पालन करेंगी, किन्तु हमें निरावरण करके अपने सामने मत बुलाओ। "

श्रीकृष्ण ने मुस्कराते हुए इशारे से कहा - "इतने बड़े त्याग में यह संकोच कलंक है। तुम तो सदा निष्कलंक हो। तुम लोगों को इसका भी अर्थात् त्याग के भाव का भी त्याग करना होगा। " इस पर गोपियों के अन्तिम आवरण भी उतार देने से भगवान श्रीकृष्ण के प्रसन्न मुख मण्डल को देखते ही गोपियों ने दोनों हाथ जोड़ते हुए बड़ी दीनता से श्रीकृष्ण से अनन्त प्रेम की भिक्षा माँगी है और उसे प्राप्त करके उनका शेष जीवन पुष्पित, पल्लवित, फलीभूत एवं धन्य हुआ।

जब प्रेमी भक्त आत्म विस्मृत हो जाता है तब उसका दायित्व प्रियतम भगवान पर हो जाता है। वे स्वयं उसे वस्त्र देते हैं। अपनी अमृतवाणी के द्वारा उन्हें विस्मृति से जगाकर फिर जगत में लाते हैं। द्रौपदी की केवल उन्हीं की अन्तिम आसरे की पुकार सुनने पर ही चीर-हरण से प्रभु रक्षा करते हैं। ' नारी बीच साड़ी है कि साड़ी बीच नारी है ' - ऐसा स्वरूप उपस्थित करके उसकी मर्यादा की रक्षा करते हैं।

श्रीकृष्ण ने कहा - " गोपियों तुम सती, साध्वी हो। तुम्हारा संकल्प सत्य होगा। तुम्हारा यह संकल्प, तुम्हारी यह कामना, तुम्हें उस पद पर प्रतिष्ठित करती हैं जो कि निःसंकल्पता और निष्कामता का फल है। तुम्हारा उद्देश्य पूर्ण

हुआ, तुम्हारा समर्पण भी पूर्ण हुआ, अब आगे आने वाली शारदीय रात्रियों में हमारे साथ रास होगा।" इस प्रकार गोपियों की जन्म-जन्म की मनोकामना पूरी हुई।

अधिकांश साधक भगवान को या समर्थ सद्गुरु को अत्यंत चाहते और साथ ही संस्कारों को न छोड़ते हुए - संस्कारों में ही उलझे रहना, माया के परदों को बनाये रखकर, इसी दुविधा की दशा में अपनी इहलीला समाप्त कर देते हैं। भगवान या समर्थ सद्गुरु यही शिक्षा देते रहते हैं कि संस्कार शून्य होकर, निरावरण (निर्वस्त्र) होकर, निःसंकोच मेरे पास आओ। मायामोह का परदा तन, मन, धन तो दीक्षा के समय ले ही लिया जाता है। यदि हम वास्तव में ही इन्हें समर्पित करके उनके हो जाते हैं तो सद्गुरु को हमारे सभी बुरे, भले संस्कारों को भी हरने के लिये, पूर्ण उद्धार करने के लिये, निश्चय ही संस्कारों के आवरण वस्त्रों को भी छीनना या चुराना ही होगा।

हम लोग गोपियों की तरह भगवान कृष्ण अथवा समर्थ सद्गुरु डॉ। श्रीकृष्ण लालजी महाराज की लीला की नजाकत को समझते हुए, उनके समक्ष सारी झिझक छोड़कर (नंगे होकर) निःसंकोच पूर्ण समर्पण कर दें तो फिर और क्या चाहिए मुझ दासनुदास को तो अपने वर्तमान गुरु पूज्य सरदारजी साहब की पीड़ा ही ऐसा कहने को वाध्य करती है -

" हाय रे अभागे जीव ! भटके फिरते हो तुम

दूर हट जाते, गुरु निकट बुलाते हैं !

लेने को समोद-गोद, उत्सुक अनाथ -नाथ,

किन्तु उनके उठे हाथ, यों ही रह जाते हैं !"

--- श्री रामवृक्ष सिंह, चकिया-चंदोली (वाराणसी)

शान्ति की खोज में

जीवन में निराशाओं से थकित न हो

अतः कोई भी प्राणी जीवन में निराशाओं से थकित न हो। मन्ज़िल देखने वाले राह के काँटों से नहीं घबराते। फूल पर आँख रखने वाले काँटों को देखते ही नहीं। वे काँटों से लहलुहान भले ही जो जाएँ, किन्तु फूल उनके हाथ में होता है। मन भी काँटा है, शैतान है। गुरु को देखने वाला, आत्मा को देखने वाला, मन एवं मन रूपी वासनाओं रूपी काँटों से दूर ही रहता है। किन्तु सामने आ जाने पर उनकी परवाह भी नहीं करता। ऐसे ही मैं मन से उलझना नहीं है और न मन के चक्कर में आना है। किसी शायर ने क्या खूब लिखा है -

" गुलों ने खारों के छेड़ने पर सिवा खामोशी के दम न मारा

शरीफ उलज़ं किसी से तो उनकी शराफ़त कहाँ रहेगी ?"

मन के कारण ही जीवन में निराशायें हाथ आती हैं, लेकिन यही जीवन की सफलता की कुन्जी हैं। फिर जीवन में निराशाओं से, आंसुओं से भागना क्या ? वगैर उनके जीवन का स्वाद ही नहीं मिल पायेगा। जीवन की मिठास आंसुओं में निहित है। केवल हँसने, कल्पना करने वालों की स्थिति संदिग्ध होती है। हँसना और रोना दाल-भात की तरह जीवन की नित्य खुराक है। न किसी पर इतराना, न किसी पर ग़म लाना। आँसू आते हैं तो रो लो, हँसी आती है तो हँस लो। दबाव डालने से बात नहीं बनती, बिगड़ जाती है। हाँ, व्यर्थ की बातों के लिए अपने को दुखी न बनाओ। रोना भी एक कला है। एक विशेष गुण है। अपनी ही बात के लिए, अपने श्री गुरुदेव के सामने रोते रहो। बस और कुछ नहीं तो श्री गुरुदेव के ख्याली चरणों को पकड़ो और रोते रहो। तुम्हारी गुरु-भक्ति का सच्चा सजग प्रयास यही है। यह पूछो की आँसू आवें कैसे ? यदि जगत के रागों से सम्बन्ध विच्छेद न कर सको, उनसे तिनका न तोड़ सको, तो उनसे प्यार ही करके देख लो। ठोकर मिले सह लेना, निराशा मिले तो चूम लेना। बस घबराना नहीं। इसी ठोकर एवं निराशा में आँसू स्वयं निःसृत हो जायेंगे, फूट पड़ेंगे। ऐसे में दुनियाँ में दो टूक सहानुभूति के शब्द बोलने वाला भी नहीं मिलता है। हँसने वाले सभी मिलते हैं। व्यंग वाण भरने वाले लाखों मिलेंगे। लेकिन तुम्हें सन्तोष देने वाला, दिल को सहलाने वाला, वह प्रियतम गुरु ही है, सद्गुरु ही है।

"You laugh and the world laughs with you,

You weep and you weep alone !"

सुख के दिनों के साथी लाख मिलते हैं, दुःख में आँसू पोछने वाला भी कोई नज़र नहीं आता। यह शेर सुना है न ,

"नशा पिला के गिरना तो सबको आता है

मज़ा तो तब है जो गिरते को थाम ले सकी/ "

जीवन की विषम स्थितियों में गिरते को सम्भाल लेने वाला, आनन्द का आसव पिलाए वाला, शान्ति की मदिरा पान कराने वाला, हृदय से हृदय को लगा लेने वाला, केवल सद्गुरु ही साकी के रूप में देख पड़ता है। बस, अपनी भावनाओं के सुमन उन्हें अर्पण कर दो, अपने जीवन का सर्वस्व उन्हें अर्पण कर दो और आँसुओं में गाते रहो -

“ अब मेरी लाज राखो आज हरि,

तुम जानत सब अन्तर्यामी करनी कछु न करो”

और बस,

श्री गुरुदेव की कृपा से सबके जीवन में परम शान्ति उतरो।

राम सन्देश अगस्त / सितम्बर 1971, श्याम, बक्सर

दीनता

दीनता की महिमा कही नहीं जा सकती। 'दीनता' शब्द का इस्तेमाल तो सब लोग करते हैं, लेकिन अपनी-अपनी समझ के मुताबिक संतों ने उसको किस मायने में कहा है, इसकी उनको कुछ खबर नहीं। दीनता ही नीव है जिसपर प्रेम की इमारत तामीर की जा सकती है और आखिर में वह खुद ही प्रेम-रूप हो जावेगी और प्रेम दात की बख्शिशा होने पर वही भक्त भगवन्त रूप है। मायिक देश के जीव तो प्रेम को बहुत ही खुराफ़ात की बातों के लिए इस्तेमाल करते हैं।

जब अंतर के अंतर में दीनता धस जावेगी तो दीनता और प्रेम में फ़र्क नहीं रहेगा। दीनता, भक्ति और प्रेम - इन तीनों में सिर्फ़ दरज़ात का फ़र्क है। दीनता के तीन दर्ज़े हैं। तन की दीनता यह है कि तन की आसक्ति रफ़ता-रफ़ता इस क़दर छूट जावे कि सुरत के घाट पर पहुँच जावे। इसमें पिण्ड के तीनों स्थूल, सूक्ष्म व कारण शरीर के अंदर सुरत की गुज़र हो गयी। बाहर का सहारा छोड़कर अंतर में धंसना और मालिक का सहारा लेना, असली दीनता है। जब इस क़दर अख़्तियार हासिल हो जावे कि रग-रग गोशत पोस्त से जान अपनी मरज़ी के मुताबिक बरामद करके उसका समूह तीसरे तिल पर बनने लगे, तब तन की देता पूर्ण रूप से समझनी चाहिए।

मन की दीनता इससे ऊपर की है और तीसरे तिल के ऊपर चलने पर प्रीति खास तौर पर जागने लगेगी और मन के मुवाफ़क़त करने पर रास्ता सुगम हो जावेगा। अभी कमज़र्फ़ है। नशे की बदहोशी और बदमस्ती को छ़ाँट कर निकाल कर खालिस प्रेम झेल नहीं सकता। तन मन की रसायन बनानी होगी। धीमी-धीमी आँच देकर रिस-रिस कर रिसता जावे, रस भिनता जावे, तब रसायन तैयार हो। यही रास्ता है। एक -दम आँच तेज़ करके दाल ख़्वाह लौकी वगैरा को पकाया जावे, तो मिर्च- मसाले वगैरा का कुछ मज़ा आ जावे, लेकिन उसका असली रस और स्वाद जो आहिस्ते-आहिस्ते आँच में पकाने से रिस-रिस कर निकलता, नहीं मिलेगा। असली रसायन बन जाने पर नाम धन प्राप्त होगा जिससे सब दरिद्रता दूर हो जावेगी।

" गुरु नाम रसायन दीना, दरिद्र हुआ सब छीना "

सुरत ही सुख का भण्डार है। वह समर्थ है। लेकिन यहाँ मन आपा धारज करने की वजह से किनके-र रस के लिए तन के अधीन होकर इन्द्रियों द्वारा भिखमंगे की तरह सुख माँगती फिरती है।

"जाके घर सुख का भण्डार,क्यों भरमत फिरे दर दर मारा "

सारा रस सुरत में है। अगर उसका झुकाव इस तरफ़ न हो तो सारे ऐशो इशरता तमाम चमन, सारी सलतनत का सामान और तमाम आरामस्तगी बेकार। सिकन्दर आजम को जब बुखार आया और हज़ार दवा दविश से नहीं उतरा तो उसने अपने सब बड़े-बड़े अराकीन कोर हकीमों से दर्याफ़्त किया कि मेरी इतनी अजीमुलशान सलतनत है, मेरा इतना इक्तिदार है, क्या बुखार उतरने में कोई शै कारआमद नहीं हो सकती? उसी वक्त अरस्तू ने उस वक्त के धर्म के अनुसार उसको उपदेश दिया, तब उसने तन छोड़ा। मन के साँप और माया के चील और ढकोसलों की परवाह कम करनी पड़ेगी और सत्पुरुष दयाल मन को ताव दे देकर कारज बनावेंगे।

" दया कर तुझ पर वे छिन छिन !

दे दे मन को ताव री !!!"

दीनता ही ऐसा औज़ार है जो सब कुछ फतह कर सकता है या सब मुखालिफत तैं करके निकल जा सकता है। मालिक तो प्रेम रूप है, उसमें मुखालिफत का जो मन से पैदा हुई है, नाम व निशान भी नहीं है। मगर प्रेम के चोचले की बोली में अगर बोला जावे तो गोया कहा जा सकता है कि मालिक को भी प्रेम बस किया और जीत लिया। (अपना नाम और निशान मिटा देना और अपने तई हार जाना ही मालिक को जीत लेना है।) जब ऐसी हालत होगी मालिक खुद अपने तई इसके सुपुर्द कर देगा। उस हालत का जब ऐसी दया नाज़िल हो सके, आना ज़रूरी है, बाकी तो मालिक खुद दया करने के लिए बेताब हैं।

" अब देवे को कुछ न रिहाई !

सतगुरु ही तेरे हुए भाई !!!"

चित्त में मायूसी न आने पावे। मायूसी आयी और उसके मिलने की आस का कला क़मा और कीमा हुआ। तन मन जर्जर हो जावे, चाहे जान छूट जावे, मालिक से मिलने की आस बनी रहे। यास न होनी चाहिए। प्रेम के चोचले में यह भी कह सकते हैं कि, " देखें आप अपने को मुझसे कैसे छुड़ा सकते हैं "? इसमें दो बातें मुकददम हैं, पहिले तो यह कि प्रण यह होना चाहिए कि मैं आपसे लूँगा। चाहे सुख देवे या दुःख, मुझे और किसी से नहीं लेना है।

" बने तो सतगुरु से बने, नहीं बिगड़े भरपूर !

तुलसी बने जो और से, ता बनवे पर धूर !!!"

दूसरी बात यह है कि ' चाहे जब दो' यानी यह शर्त भी नहीं करता कि कब दोगे। अब दो चाहे जब दो, टिकटिकी दर्शनों की लगी है। मुझे तो आपका आसरा है, आपकी ही शरण दृढ़ पकड़ी है, जब चाहे जब दो। आप ही से लेना है, और किसी के पास कुछ है नहीं, चाहे कोटि जन्म की झकझोल पड़ जावे।

" तुम बिन मोहिं किससे लेना, जब चाहो तब ही देना/ "

सुरत खुद दीनता रूप है और यह उसकी दीनता है। मेरी आस सर्वांग करके आप ही में लगी हुई है, जब चाहें आप पूरी करें। दान जब लूँगा, आपसे लूँगा और जब ही लूँगा जब आप देंगे। ऐसी हालत होने पर मालिक अपनी ज़ात और जौहर, प्रेम दात देगा जिसके प्राप्त होने पर यह बेहाल और निहाल हो जावेगा। दृढ़ आस इस बात की धारणा करनी चाहिए कि हमेशा इन्तज़ार करेंगे और जब ही लेंगे जब आप देंगे।

राम सन्देश : दिसम्बर 1972॥

00000000

राम सन्देश : मई, 1972।

नाम की महिमा

" एक चित्त जेहि इक छिन ध्याओ।

काल फास के बीच न आओ !"

महापुरुषों का कथन है कि यदि पूर्णतः एकाग्र चित्त से एक क्षण के लिए भी ईश्वर का चिन्तन कर लिया जाय तो जन्म-मरण के चक्कर से मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है।

" प्रभु के सिमरन गर्भ न बसै,

प्रभु के सिमरन दुःख जम नसै !"

मनुष्य को मृत्यु का भय सर्वाधिक दुखी करता है। परन्तु प्रभु के नाम का स्मरण करने वाले को मरने का तथा अन्य किसी प्रकार का भय नहीं रहता तथा ऐसा साधक भवसागर से पार हो जाता है।

भवसागर (काल फास) के पार करने का भाव यह है कि साधक को बारम्बार माँ के गर्भ में आकर पीड़ा भोगने के लिए, जन्म लेने के लिए इस संसार में आने से छुटकारा मिल जाये। वास्तविक परमार्थ का फल यही है कि साधक आवागमन के चक्र से छूट जाय।

" मन हरि नाम की महिमा ऊच,

नानक नाम उद्धरे पतित बहूमूच !"

'नाम' की स्तुति सब सन्तों ने गाई है। इस स्तुति के लिए जो जितना कहा जाय थोड़ा है। हरि का नाम भजने से तो नीच और पतित जन भी पुनीत हो जाते हैं। सर्व सुखों का सच्चा आधार 'नाम' है।

" सिमरो सिमिर २ पावो,

कल-कलेश तन मांहि मिटावो !"

ईश्वर के नाम -स्मरण से शारीरिक व मानसिक दुखों तथा भौतिक क्लेशों का नाश होकर, सर्व सुखों का उदय होता है।

" सर्व रोग का औषध नाम "

' नाम " के सुख की तुलना कोई अन्य सुख नहीं कर सकता। यहाँ सुख का भाव यह है कि किसी प्रकार का दुःख न रहे। वेद, पुराण तथा अन्य पवित्र शास्त्रों का सार 'नाम' ही है। उन ग्रंथों के लेखक भी ईश्वर के नाम से ही परम पद को पहुँचे हैं।

यह सत्य है कि 'नाम' की महिमा का गुणगान जितना भी किया जाय थोड़ा है। किन्तु वह कौनसा नाम है जिसके विषय में यह कहा जाता है कि 'एक बार - एक क्षण' के सुमिरन से ही काल समीप नहीं आता ? मुसलमान धर्मवेत्ताओं का कहना है कि कुरान शरीफ में एक 'इस्मे अज़ीम ' (सर्वश्रेष्ठ नाम) है जिसके सुमिरन से परलोक मिल जाता है। उनका कहना है कि यह नाम 'गुप्त' है।

एक बार कबीर साहब की अनुपस्थिति में कमाल साहब ने एक कोढ़ी का रोग ठीक कर दिया। कबीर साहब के लौटने पर उन्हें बताया कि तीन बार राम का नाम लेने से ही रोगी को स्वस्थ कर दिया गया। इस पर कबीर साहब ने दुःख प्रकट किया कि "तूने मेरे 'राम' के नाम को बदनाम कर दिया। बेटा, राम का नाम तो एक बार लेना ही काफी होना चाहिए था।"

वह 'राम' का कौनसा 'नाम' था ?

कहा जाता है कि अन्त समय में भी जिसके मुख पे 'नाथ' की पुकार आ गयी, उसी का उद्धार हो गया। अजामील की गाथा प्रसिद्ध है कि उसने मरते समय 'नारायण' को पुकारा जो कि उसके पुत्र का नाम था, पर यह पुकार सुनकर साक्षात् नारायण ही उसका उद्धार करने को उपस्थित हो गए।

“ अन्तकाल जिन तुम्हें सम्भारा,

काल फास ते ताहे उबारा !”

अजामील संस्कारी जीव था, चतुर और बुद्धिमान था। गुरु की उस पर असीम कृपा थी। वह राज पुरोहित भी बन गया था। किन्तु उसके आदेश की अवेहलना करके वह माया- जाल में फंस गया। जब संस्कारों का क्षय हुआ, उसने आर्त होकर ईश्वर से प्रार्थना की। सच्चा पाश्चाताप किया, अपने अहं को, अपने दम्भ को, छोड़कर नारायण का स्मरण किया और ऐसा करके मुक्ति पायी।

आरम्भ से अन्त तक साधना की सम्पूर्ण व्यवस्था को 'नाम' कहा जा सकता है। साधना काल में जब साधक आत्मा के स्थान तक पहुँच जाता है, उस समय एक असीम आनन्द व सुख का आभास होता है। यह आनन्द साधक को प्रेरणा व उत्साह देता है कि वह अपने साधन में और भी प्रगति करे जिससे उसका आनन्द दिन दूना रात चौगुना होता जाय। ऐसा अभ्यास करते-करते एक स्थिति ऐसी आ जाती है जब कि वह स्वयं 'नाम' रूप हो जाता है। तब उसमें और ईश्वर में कोई भेद नहीं रह जाता, और जब यही स्थिति निरन्तर स्थिर हो जाती है तो साधक को पूरी सफलता प्राप्त होती है और वह जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है। इस 'नाम' (स्थितप्रज्ञ अवस्था अर्थात् स्वरूपता) के क्षणों की महत्ता के विषय में ही गुरुदेव ने लिखा है -

" इक चित्त जेहि इक छिन ध्यायो,

काल फास के बीच न आयो !"

ईश्वर से निरन्तर तदरूपता को ही वास्तव में 'नाम' कहा गया है।

" ज्यो जल में जल आस खटाना,

त्यो ज्योति संग ज्योत समाना !"

इस शिखर की योगावस्था में पहुँचकर साधक में 'अहं' लेशमात्र का भी नहीं रहता वह संकल्प-विकल्प से मुक्त हो जाता है। कोई संस्कार भी नहीं बचता। द्वैतभाव क्षीण होकर नष्ट हो जाता है। देह के पाँचों आवरणों का भार नहीं रहता। इस 'नाम' से प्राणी आवागमन के चक्र व झंझट से छूट जाता है। साधक स्वयं सिद्ध हो जाता है। फिर सिद्ध अवस्था में उसके मुखारविन्द से जो भी शब्द निकलता है, अर्थ उसके पीछे-पीछे चलता है अर्थात् वह बात सत्य सिद्ध होती है।

साधना की चार मुख्य अवस्थाएँ हैं - सालोकता, सामीपता, संयोगता तथा स्वरूपता। उधर दूसरी तरफ सूफी फ़कीर साधना की सात मन्ज़िलें (चरण) मानते हैं। कहने में अन्तर भले ही हो, वास्तविकता एक ही है।

इसी प्रकार श्रष्टि के चार युग माने जाते हैं - सतयुग, द्वापर, त्रेता और कलियुग। सतयुग में सत्य (आत्मा) का प्रभाव था। त्रेता में आत्मा का कुछ अभाव हुआ, परन्तु सात्विकता का अधिक बोलबाला था। द्वापर में आत्मा का अभाव सा ही था - सात्विकता कम हुई पर रजोगुण प्रधान था। कलियुग में, जैसा कि हम सब देखते हैं, आत्मा का नाम नहीं, सात्विकता की कमी है, राजसिक गुण कहीं-र दीखते हैं किन्तु तामसिक वृत्ति चारों ओर छायी हुई है। कलियुग में भवसागर तरने के लिए सब सन्तों ने 'नाम' का सहारा लेने के लिए उपदेश दिया है।

" जो कल में इक बार ध्याये हैं,

ताके काल निकट नहीं आये हैं !"

अब प्रश्न यह उठता है कि इस 'नाम' का 'स्मरण' कैसे किया जाय ? एक दृष्टान्त है - दो साधु थे, जंगल में बैठे ईश्वर के ध्यान में मग्न थे। नारद जी वहाँ से गुज़रे। उन्होंने कहा - 'हे महामुनि, कृपया आप हमें भगवान से पूछ कर यह बताने का कष्ट करें कि हमें ईश्वर के दर्शन कब होंगे?' नारद जी ने भगवान विष्णु के दर्शन किये और साधुओं के पूछने पर उनके प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया - " आप में से अमुक को तो चार जन्म की तपस्या के पश्चात् और दूसरे साधक को एक हजार वर्षों के बाद दर्शन होंगे। पहला साधु सोचने लगा कि उसे तप व पूजा-साधना का कोई लाभ नहीं हुआ। दूसरा साधु आशावादी था, नारद जी की बातें सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ कि दर्शन होंगे तो अवश्य, भले ही देर से हों। इसी खुशी में वह उन्मत्त होकर नाचने लगा और इतना विभोर हो गया कि स्वयं को भी भूल गया और तभी उसको दर्शन-लाभ हुआ। हुआ यह कि उस चरम सीमा की एकात्म-भावना और भावावेश में उसके सारे संस्कार धुल गए।

कहने का तात्पर्य यह है कि 'नाम' की किसी विशेष पद्धति या रीति (टेक्नीक) की महत्ता नहीं है। विश्व के विभिन्न संत-महात्माओं ने अपने-2 ढंग के साधनों द्वारा ईश्वर-प्राप्ति की है। प्रेम, श्रद्धा तथा आशावादी होना साधना के

आवश्यक अंग हैं। परन्तु मुख्य अंग 'मरना' है। 'मरने का भाव यह है कि हमारे और ईश्वर के बीच जो भी वस्तु बाधक है, उससे मुक्ति पायी जावे। शरीर से मरना नहीं, मन से मरना है। माया व मन हमारे और ईश्वर के बीच दीवार खड़ी करते हैं। हमें ईश्वर के प्रेम के द्वारा इनसे मुक्त होना है। स्थूल-माया है शरीर, सूक्ष्म माया है मन के संकल्प-विकल्प और बुद्धि की चतुराई तथा कारण रूप हैं सात्विक गुण तथा परलोक की सुख कामना। इन सभी का त्याग करना है।

" तर्क दुनियाँ, तर्क उक़बा

तर्क मौला, तर्क तर्क !"

" मृत्यु ही वास्तविक 'नाम' तथा 'जीवन' है।" मृत्यु (तर्क) का भाव यह है कि अन्तर में न कुछ करने की इच्छा हो और न किसी वस्तु के त्याग का प्रयत्न। वृत्ति और निवृत्ति के परे जो शान्ति का साम्राज्य है वहाँ जाकर जीना है। वहाँ न राग है, न वैराग्या न आस्तिक है न अनास्तिका वहाँ तो केवल 'जीवन' है जहाँ नेकी- बदी दोनों का अन्त हो जाता है। साधक ईश्वर की गति (मौज़) में अपने अहंकार का विलय करके विलीन हो जाता है। अपने गुरु के दिए हुए 'नाम' से जब इस देश में साधक प्रवेश करता है उसी क्षण उसका उद्धार का श्रीगणेश होना आरम्भ हो जाता है।

जो मरने के लिए तैयार हैं उन्हें गुरुजन स्वयं अपने पास बुलाते हैं।

" कबिरा खड़ा बज़ार में,

लिए लुकारी हाथ,

जो घर भूँके आपना,

चलै हमारे साथ।"

गुरुदेव सबका कल्याण करें।

0000000000

राम सन्देश : दिसम्बर, 1979 ।

प्रणव (ॐ) आदि शब्द उपासना

(श्रीयुत जय नारायण गौतम जी)

परम पूज्य महात्मा श्रीकृष्ण लाल जी के गुरुदेव महात्मा रामचन्द्र जी (लाला जी) महाराज ने 'ईश्वर प्राप्ति का निश्चित साधन' में लिखा है कि "जिक्र -ए-खफ़ी" - दिल का जाप - किया करें। यह 'दिल का जाप' क्या है ?

प्रश्नोपनिषद आख्यान में गाथा आती है कि महर्षि पिप्पलादि से शिष्य ब्रह्मचारी सत्यकाम से पूछा कि 'प्रणव उपासना' क्या है विस्तार से समझाने की कृपा करें। तब जनसाधारण के कल्याण के लिए महर्षि ने व्याख्या दी जो इस प्रकार है :-

प्रणव शब्द में तीन अक्षर हैं - प्र + ण + व् । प्र से तात्पर्य है - आगे बढ़ना (**forward, forth, onward, progress**) 'ण' द्योतक है 'न' का जिसके अर्थ हैं अक्षर शून्यता (**undivided void**) 'व' तरल लहरी या गुंजन का द्योतक है कि जैसे वरुण (जल) या वायु की वेग तरंगों से निकला करती हैं जो दृश्य होते हुए भी अदृश्यता में रहती हैं एवं इन गुंजनों का शब्द नादिया (सांड) के रम्भाने या सिंह के हुँकारने जैसा स्पंदन, आन्दोलन, स्फुरन, कंपन या तरंग उपजाता है। इन सभी भावों को एक साथ रखने से आशय निकलता है कि 'प्रणव' प्राण संचारी जीवन तरंग है कि जिसे आध्यात्मिक नाम "ॐ " दिया गया है। यह नाम "जन्म +पोषण+लय " का सामूहिक द्योतक है। नवजात शिशु द्वारा प्रथम सम्बोधन " ऊँ आ " ऊँ का प्रतीक है, एवं जगत की तीन स्थितियाँ (1) स्थूल (2) सूक्ष्म,(3) कारण या विराट, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत, या जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति। या सगुन, निर्गुण, तथता (ज्ञान) - इसी के परिष्करण हैं। इसीलिए 'पातंजलि योग दर्शन' में कहा है - "तस्य वाचकः प्रणवः " अर्थात् ब्रह्म का वाचन (आख्या) प्रणव (ओम) शब्द से होता है। तब इस शब्द की वास्तविकता को खोजना चाहिए।

रचना से पहले सारे अणु परमाणु बिखरे पड़े थे, प्राणी भी अचेत (लीन) थे - चैतन्य शक्ति स्वतः ब्रह्मलीन थी, प्रलय रात्रि थी। आदि 'ब्रह्म चित शक्ति ' संचारी सचेत हुई, आकर्षण से, गुरुत्वाकर्षण, महत से चुम्बाकर्षण (**gravity and magnetism**) चले। शक्ति की धार ने माददे (**matte**) को ठोकर दी। चांचल्य ,जाज्वल्य, क्रियता का गोलाकार संचालन होने से सभी बिखराव सिमट कर घूमने लगा। इससे घनघोर नाद, ध्वनि होने लगी। इसी धुन के आधार पर संस्कृत में प्रणव के अर्थ संगीत उत्पादक वाद्य जैसे भेरी, डिंडिम, दुंदभिम मुरज, मृदंग (**drum, tabor**) हैं एवं विष्णु की व्यापक शक्ति की विशेष उपाधि (**epithet**) को भी कहते हैं। इस विश्वात्मक गुंजन से प्राप्त जीवन चल रहा है। प्राणी, जीव विश्व से भिन्न (अलग) अपनी हस्ती नहीं रखता। विश्व में वह भी विश्वात्मक चैतन्य से संचारी है। अतः प्राणी में भी वही प्राकृतिक स्वाभाविक गुंजन की धार (**sound current**) प्रवाहित है जो जीवनी शक्ति है। इस ही गुंजन को 'अनहत नाद ' अर्थात् बिना मनुष्य के बजाये भी (स्वतः संचारी गुंजन) वादन करने वाला नाद (शब्द) कहते हैं।

यही ध्वनिआत्मक गुंजन चैतन्य को ज़हूर में लाती है तब वह शब्द वर्णात्मक (आकारी) कहलाता है। इसी के बारम्बार विस्तार से जगत बना, प्राणदा होने से प्रणव कहलाया। गायन प्रयोग में आने वाले शब्द - सा, रे, गा, मा, पा,

धा, नि - इस आंतरिक ध्वनि पर आधारित हैं। जब बाह्य में सुरीले हैं तो अन्तर में भी इनकी सुरीली झंकार ऋषियों ने सुनी। यह अन्तर की झंकार बाहर के कानों से सुनाई नहीं पड़ती। पर एकाग्रचित्त ध्यान अभ्यास बढ़ने पर अन्तर में हृदय से सुनी जाती है। आरम्भ में इसकी आवाज़ सतत "ओओओ: जैसी है, फिर माधुर्य मिश्रित, भाव प्रधान, 'हुँकार' में परिणत सी होती है। अतः 'ओम ' धुन सी है। इसमें आकर्षण है, लय भी है, मोद भी है।

यह 'धुन' ही तो आदिशिव डमरु की गुंजार है। नटराज शिव नृत्य की किलोल तरंग है। जब यह तरंग 'सम' पर आती है तो चांचल्य रुक कर आत्मा का प्रसार बढ़ता है। इस समय शरीर गदगद होता है, और रोम, रोम से 'ओम " नाम संचारी होता है, आकर्षण से भावनात्मक श्रद्धा भावों की परिणति अनन्त प्रेम में प्लावित और परिवर्तित होने लगती है। जब सारे ही शरीर से सतत 'ओम' झंकृत होने लगता है, तब यही झंकृति साधक को वाह्य जगत में सुनाई पड़ती है और लवलीन लय की ओर स्वतः ले चलती है। आत्म प्रकाश, आत्म विवर्षण करने लगता है, तो वास्तविकता अर्थात् ज्ञान से प्रज्ञान निखरने लगता है।

'सु' के अर्थ हैं आत्मा। 'रत' के अर्थ हैं लगावा। अतः 'सुरत शब्द योग' , 'नाद योग', 'मुदिता योग' के अर्थ हैं आन्तरिक शब्द सुनने के अभ्यास को बढ़ाकर, परमात्व भाव में लीन होते हुए, आत्मसाक्षात्कार करना, सायुजता प्राप्त करना। यह मार्ग नितान्त वास्तविक और प्राकृतिक है, अतः सरल है। इसमें कर्ताभिमानिपन नहीं उपजता, केवल सुनने से साक्ष्य भाव उत्पन्न होता है, अतः संस्कार नहीं बनते, पुराने संस्कार भोगने की सहिष्णुता बढ़ जाती है। यही आन्तरिक संगीत, उदगीथ, सामगायन है।

इसी को 'मौन का नाद' (**song of silence**) कहते हैं। यही आत्मा की प्रार्थना है। ॐ श्रष्टिकर्ता ब्रह्म है। मनुष्य की चंचलता शान्त होकर विश्व-चैतन्य से एकाकार होने का मार्ग है। श्रीमदभगवद्गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि इस प्रणाली को 'विवस्वान (सूर्य) ने फिर मनु ने, फिर इसी विश्वध्वनि को पंतञ्जलि ने फिर सन्तों ने सुन कर साक्ष्य किया।

आमेन (**amen-omen**) यही शब्द ॐ है। शब्द (**The Word**) यही है। तिब्बतियों का ' हुँ ' यही है। मुस्लिमों का 'आमीन' यही है। मिश्री युनानियों का यहूदियों का, हीबुओं का 'आमेन' यही है। एवम यही है। स्पंदन यही है। तरंग यही है। सोअहम यही है। अहम यही है। एलेक्ट्रॉन-प्रोटोन (**electron x proton**) से लाइफट्रॉन (**lifetron**) यही है। चीनियों के ताओ (**Tao**) में यिन, यांग, ची यही है। जापान का जेन (**Zen**) अभ्यास (**Zanzen**) यही है। 'ज़िक्र ' सूफियों में इसी को कहते हैं। व्याप्त होने से राम यही है। यही आगे चलकर अजपाजाप, सुमिरन/सिमिरण कहाता है - जो जागते, सोते, सतत, निरन्तर चल रहा है, चलता रहेगा। यही तो दरदे दिल है।

सन्तों के चरणों में बैठने से साधक की तरंगे शीघ्र तरंगित होती हैं क्योंकि संगत से सत्संग में तरंगों का आदान प्रदान स्वाभाविक होता रहता है। पर चरित्रशील में यदि कमज़ोरी है तो पात्रता दब जाने से मार्ग शिथिल हो जाया करता है।

!! जिसने दिया है दरदे दिल !!

!! उसका खुदा भला करे !!

मन को एकाग्र करना

मन को एकाग्र करना हमारे सत्संग के साधन की मुख्य आवश्यकता है। सत्संगी भाइयों को प्रायः यह कहते सुना गया है कि उनका मन एकाग्र नहीं होता। अर्जुन ने भी श्रीकृष्ण भगवान से यही शिकायत की थी कि उनका मन वश में नहीं हो पाता। उत्तर में श्री भगवान ने कहा था कि वायु को मुट्ठी में बन्द कर लेना सम्भव हो सकता है लेकिन मन को वश में कर लेना आसान नहीं है। इसके बिना आध्यात्म के रास्ते पर प्रगति नहीं हो सकती। आध्यात्म के रास्ते पर चलने वालों के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वे विभिन्न उपायों से अपने मन को एकाग्र कर लें। सभी उपायों में श्रेयस्कर जो उपाय है वह मन को आत्मा में स्थिर कर लेने का है।

विचार के चिन्तन का जो वेग-चक्र चल रहा है, उसे तो रोकना होगा। प्रयत्न करने से यदि किसी तरह विचारों का यह बाहरी चिन्तन बन्द भी हो जाये तो अन्तर के विचारों के चक्रों का वेग बहुत अधिक बढ़ जाता है। हम भले ही ध्यान लगाकर बैठ जायें, आँखें मूँद कर स्थिर हो लें, हमारा मन किसी भी तरह एकाग्र नहीं होता। विचारों का चक्र जिससे यह मन हर घड़ी चलायमान रहता है, कभी रुकता ही नहीं। इन विचारों का स्रोत तो बाहर का यह अपरम्पार संसार है। हमारा मन हर समय इससे भरा रहता है। इसका अन्त कभी होता ही नहीं और उसे जब तक हम बन्द न कर दें, मन एकाग्र हो ही नहीं सकता।

इन विचारों के पीछे हमारी आत्मा की अपार ज्ञान शक्ति नष्ट होती रहती है, हालांकि वह इच्छाएँ तुच्छ हैं, साथ-ही-साथ क्षण-भंगुर भी। जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने धन को जो बड़े परिश्रम से कमाया हुआ होता है, बहुत सोच-समझकर खर्च करता है, उसी प्रकार किसी भी व्यक्ति को अपनी आत्मिक ज्ञान शक्ति को व्यय करने में सतर्क रहना चाहिए। यह शक्ति हमारी एक अमूल्य धरोहर है जिसे हम मामूली इच्छाओं के पीछे नष्ट कर देते हैं। क्या हम यह विचार नहीं कर सकते कि इन्हीं शक्तियों का उपयोग हम ईश्वर चिन्तन में कर सकते हैं ? उस चिन्तन से हमारी शक्ति कहीं और अधिक बलवान हो जायेगी। परमेश्वर की ओर यदि हमारा मन किसी प्रकार आकृष्ट भी होता है तो संसार साथ ही साथ पीछे लगा रहता है। संसार को हम एक पल के लिए भी भुलाना नहीं चाहते। यह भयानक संसार हमारे रग-रग में इस प्रकार समा गया है कि दिन-रात एक क्षण के लिए भी उसकी विस्मृति नहीं होती।

प्रार्थना या भजन भी जब हम करते हैं, हमारा मन बाहर ही भागता रहता है। एकाग्रता फिर कैसे नसीब हो ? किसी को प्रवचन या कथा-पुराण सुनने में निद्रा सताने लगती है, परन्तु बिस्तर पर लेटने पर तरह-तरह की चिंताएँ घेर लेती हैं। एक बार किसी ने यह प्रश्न किया कि साधना करते समय हम आँखें बन्द या अंधमूँदी क्यों रखते हैं ? उत्तर मिला कि आँखें खुली रखने पर चारों ओर दृष्टि जाने से संसार का दृश्य मन को एकाग्र नहीं होने देता। किन्तु आँखें मूँद लेने से नींद भी तो आ जाती है ?

उपरोक्त बातों से ही स्पष्ट हो जाता है कि मन की स्थिति बदले बिना एकाग्रता नहीं हो सकती। मन की स्थिति को शुद्ध करना होगा। मन की स्थिति तभी शुद्ध हो सकेगी जब हमारे सारे व्यवहार शुद्ध हो जायेंगे। व्यवहार शुद्ध करने

हेतु हमें उद्देश्य को बदल देना पड़ेगा। व्यक्तिगत लाभ के लिए वासनावृत्ति अथवा अन्य बाहिरी बातों के लिये व्यवहार छोड़ देना होगा।

हम लोगों की यह आदत सी हो गयी है कि हम हर समय दूसरों के दोषों की तरफ़ निहारते रहते हैं और प्रतिक्रिया करते रहते हैं। अपने दोषों को हम भूल जाते हैं। दूसरे के दोषों को निहारते रहने का फल यह होता है कि वही दोष हमारे अपने अंतर में उतर आते हैं और हम उन्हीं दोषों के शिकार हो जाते हैं। हम यह क्यों नहीं सोचते कि दूसरों के गुण-दोष में क्या देखूँ, मुझमें क्या इन दोषों की कमी है, खुद मुझमें क्या दोष कम हैं ? यदि हमने हर समय दूसरों की छोटी-छोटी बातें देखने में ही अपने मन को लगाये रखा तो फिर हमारे चित्त की एकाग्रता कैसे सधेगी ? ऐसे दशा में हमारी स्थिति दो ही प्रकार की हो सकती है - एक तो शून्य अवस्था अर्थात् नींद और दूसरी अनेकाग्रता। यह तो तमोगुण और रजोगुण में ही सदैव उलझे रहना हुआ।

मन की एकाग्रता लाने के लिये दूसरी सहायक बात है - जीवन की परिमितता। हमारे सभी कार्य आवश्यकता के अनुसार नपे तुले होने चाहिए। औषधि जैसे नपी-तुली मात्रा में ली जाती है, वैसी ही हमारी आहार-निन्द्रा नपी- तुली होनी चाहिये। प्रत्येक इन्द्रिय पर पहरा रखना चाहिये जिससे कि नाप-तोल में किसी भी ओर से गड़बड़ी न हो। मेरे खाने की मात्रा कहीं अधिक तो नहीं है, मैं ज़्यादा तो नहीं सोता, ज़रूरत से ज़्यादा तो नहीं बोलता - ऐसा ध्यान बारीकी से हर समय रखना चाहिये। हमें चौकस रहना पड़ेगा कि हमारे मुँह, कान तथा आँख का उपयोग कहीं ज़रूरत से ज़्यादा तो नहीं हो रहा। इसीलिए यह स्मरण रहे कि हम वस्तुओं से दूर रहें तथा निर्दोष वस्तुओं का भी ज़रूरत से ज़्यादा सेवन न करें।

लोलुपता किसी भी प्रकार की नहीं होनी चाहिये। प्रातःकाल में व्यक्ति का मन शान्त एवं एकाग्र रहता है लेकिन हमारी आदत कुछ ऐसी बुरी पड़ गयी है कि हम उसी समय दैनिक समाचार-पत्र अवश्य पढ़ते हैं। पेपर पढ़ते ही हमारा मन विचलित हो जाता है और मन में प्रतिक्रिया उठने लगती है। शान्त मन की एकाग्रता कोसाँ दूर हो जाती है। हमारी जीभ को अनाप-शनाप खाने की जो आदत पड़ गयी है, उस पर भी नियंत्रण होना चाहिये। इन्द्रियों पर अपना कुछ वश होना चाहिये जिससे कि हम कहीं ऊट-पटांग रूप से व्यवहार न करने लगे। नियमित आचरण को ही जीवन की परिमितता कहते हैं।

मन की एकाग्रता के लिए तीसरी आवश्यक बात जो है वह है - समदृष्टि का होना। समदृष्टि का अर्थ है शुभ-दृष्टि। किसी भी व्यक्ति के विषय में हम शुभ दृष्टि ही रखें। उसके अच्छे गुण ही देखें। शुभ दृष्टि प्राप्त हुए बिना चित्त एकाग्र नहीं हो सकता। शेर जंगल का इतना बड़ा और बलवान जानवर है, परन्तु चार कदम चलकर वह पीछे की ओर देखता है। हिन्सक पशु को एकाग्रता कैसे प्राप्त होगी ? शेर, कौए, बिल्ली, इनकी आँखें हमेशा फिरती रहती हैं। उनकी निगाहें चौकस ओर घबराई हुई होती हैं। हिन्सक प्राणियों का सदा यही हाल रहेगा। यह सारी श्रष्टि मंगलमयी रहनी चाहिये। मुझे स्वयं पर विश्वास हो जाये, किसी प्रकार का भय न रहे। उसी भाँति सारी श्रष्टि पर दृढ़ विश्वास हो जाना चाहिये कि यह विश्व मंगलमय है - क्योंकि परमेश्वर उसकी देखभाल करता है।

इस मायावी संसार में कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है जो शान्ति और प्रसन्नता से अपना जीवन व्यतीत कर रहा हो। शान्ति और प्रसन्नता की खोज में वह चारों ओर भटकता फिरता है लेकिन उनकी प्राप्ति नहीं होती। प्रत्येक व्यक्ति तीन छिपे हुए सुखों की चाह में मारा-मारा फिर रहा है -

- (1) उसे सम्पूर्ण ज्ञान हो जाये,
- (2) चिरस्थायी आनन्द की प्राप्ति हो, तथा
- (3) हमेशा की ज़िन्दगी मिल जाये।

आम लोगों का यह विचार है कि दुनियाँ के सामान के अन्दर सुख है, इसीलिए उनके मिल जाने पर इन्सान को सुख प्राप्त हो सकता है। और इसी कारण से तमाम दुनियाँ के लोग दुनियाँ का सामान एकत्रित करने में लगे रहते हैं। कोई धन-दौलत में सुख समझता है, दूसरा व्यक्ति औलाद में सुख तलाश करता है, तीसरा व्यक्ति मकान में सुख तलाश करता है, कोई सुन्दर स्त्री में सुख पाना चाहता है तो कोई विद्या अर्जन में। उम्र भर इन्हीं सुखों के पीछे भागता रहता है, लेकिन सुख कहीं से प्राप्त नहीं होता और अन्तिम समय आ जाता है। रेशम के कीड़े की तरह अपने अन्दर से तार निकालता है और आखिर में वही तार उसको चारों तरफ से घेर लेते हैं और उसका दम घुट जाता है। इसी तरह सुख दुनियाँ की चीज़ों में मौजूद नहीं है, नहीं तो साँसारिक सुख-सुविधा की वस्तुएँ जितने समृद्ध एवं सम्पन्न लोगों के पास हुआ करती हैं, वे सब सुखी होते।

ऐसी स्थिति में व्याकुल होकर मनुष्य एक ऐसे व्यक्ति की तलाश करता है जो दुनियाँ के सभी सुखों को हासिल कर चुका हो, और सदा-सदा के लिए उस आनन्द का अनुभव दूसरों को भी करा सकता हो। ऐसे ही योग्य व्यक्ति को हम गुरु या महापुरुष मानते हैं। उसे हम सर्वश्रेष्ठ हितेषी स्वीकार कर लेते हैं। वह हमें अनुभव करा देता है कि असली आनन्द आत्मा में है। जब तक हमें आत्मा की रसाई (अनुभूति) नहीं हो जाती, हम इस दुनियाँ में असली आनन्द का मज़ा नहीं चख सकते। जब किसी महापुरुष पर हमें पूर्णरूपेण विश्वास विश्वास हो जाता है तो हम आग्रह करके उसके शिष्य बन जाते हैं। जिस प्रकार का जीवन व्यतीत करने के लिये वह हमें आदेश देता है, हम उसी के अनुसार चलते हैं।

मानव-जीवन की सार्थकता

(आचार्य अक्षयकुमार बंद्योपाध्याय (डॉ. बनर्जी) महोदय)

संसार के इतिहास और धर्मशास्त्रसमूह इस बात की गवाही देते हैं कि इस जगत में जितने भी महापुरुष चरम सार्थकता में प्रतिष्ठित हुए हैं, उनमें से कोई ऐसा नहीं हुआ है जिसने पहले उस चरम सिद्धि के स्वरूप को समझ लिया हो और तब साधन-पथ पर चला हो। वस्तुतः उसके विषय में एक सुस्पष्ट निःसन्दिग्ध धारणा कर लेना ही सम्भव नहीं है। मानव-बुद्धि अपनी logic या तर्कशास्त्र की कसौटी पर कसकर चाहे जिस किसी सिद्धान्त पर ही क्यों न पहुँच जाय, वह एक विशिष्ट theory या मतवाद ही होगा। किन्तु जीवजगत के चरम तत्व के सम्बन्ध में एवं मानव जीवन की चरम समस्याओं के समाधान के सम्बन्ध में मानव बुद्धि किसी ऐसी theory या मतवाद की प्रतिष्ठा करने में समर्थ नहीं हुई है, जिसके विरुद्ध वही बुद्धि फिर नाना प्रकार के शंका और संशय न उठा सकी हो, एवं जिसके विरुद्ध कोई दूसरी --- भी उपस्थित न कर सकी हो। इस प्रकार की आशा रखने का भी कोई उपयुक्त कारण नहीं मिलता कि किसी भी काल में बुद्धि के क्षेत्र में कोई भी एक सर्ववादिसम्मत मतवाद प्रतिष्ठित हो सकेगा। जिस प्रकार इस बात को बिलकुल ही सुनिश्चित मानना पड़ता है कि सभी संशयों और भ्रान्तियों के अन्तराल में एक महासत्य विद्यमान है, एवं सभी कर्मप्रेरणाओं और आशा-आकांक्षाओं के अन्तराल में एक चरम आदर्श छिपा है - (क्योंकि इसको स्वीकार न करने पर संशय और भ्रान्ति एवं कर्मप्रेरणा और आशा-आकांक्षाओं का कुछ अर्थ ही नहीं रहता), उसी प्रकार इस बात को भी सर्वथा सुनिश्चित मानना पड़ता है कि उस महासत्य और चरम आदर्श को मानव बुद्धि कभी अपनी सुस्पष्ट धारणा का विषयीभूत नहीं कर सकती।

असीम की खोज चलती ही रहती है, उसका पार कभी नहीं मिलता। बुद्धि के पात्र में भरने की कोशिश करते ही वह ससीम हो जाता है, वह एक विशिष्ट आकार में आकारित हो जाता है, एवं अन्यान्य सम्भावनीय आकारों के साथ उसका विरोध उपस्थित हो जाता है। मनुष्य ने सर्वदा ही अपने जीवन की अन्तिम सीमा को बुद्धि के अधीन करने का प्रयत्न किया है, उससे उस असीम के नए-नए रूप होते गए हैं, विचित्र भावों में उसके वर्णन हुए हैं, उसके द्वारा विभिन्न रसों का आस्वादन हुआ है, नानाविध संघर्षों की भी श्रष्टि हुई है, किन्तु उस अशेष की अन्तिम सीमा का यथार्थतः निर्धारण कभी नहीं हुआ। इसी कारण कहा गया है कि 'वेदाः विभिन्नाःस्मृत्यो विभिन्ना नासौ मुनिर्यस्य मर्त न भिन्नम।'

पूर्ववर्ती महापुरुषों द्वारा प्रदर्शित उस महासत्य और महान आदर्श के किसी एक विशिष्ट रूप के अवलंबन द्वारा जीवन को सुनियंत्रित करके उस अशेष के मार्ग पर चलना ही साधकमात्र के लिए आवश्यक है, एवं मानवजगत के सभी महापुरुषों ने यही करके जीवन को सार्थक किया है।

जीवन का चरम लक्ष्य क्या है, एवं सब मनुष्यों की जीवन-साधना का चरम लक्ष्य एक है या नहीं ; इन प्रश्नों को अपने किसी भी स्तर (category) में डालकर बुद्धि उत्तर देने में समर्थ नहीं होती, क्योंकि इसका जो उत्तर हो सकता है, वह बुद्धि का विषय नहीं, आस्वादन का विषय है। किसी भी तरह की आस्वाद्य वस्तु का स्वरूप समझ के स्तरों (categories of understanding) द्वारा निरूपित नहीं होता। जीवन के चरम लक्ष्य का जानना और उसे पा जाना वस्तुतः एक ही बात है। 'आनन्द', 'पूर्णता', 'मोक्ष', 'भगवत्प्राप्ति', 'परमकल्याण', 'परम सौन्दर्य' - इस प्रकार किसी भी नाम के द्वारा उसका इन्निगत किया जा सकता है सही, किन्तु इन नामों में से किसी का भी सम्यक अर्थ क्या बुद्धि

द्वारा समझा जा सकता है ? आनन्द के आस्वादन में ही आनन्द समझा जा सकता है, मोक्ष प्राप्त होने पर ही मोक्ष के यथार्थ स्वरूप के साथ परिचय होता है, हृदय के प्रेममय हो जाने पर ही प्रेम और तदास्वादय सौन्दर्य का स्वरूप हृदयंगम होता है, प्राण के भागवत हो जाने पर ही भगवत्प्राप्ति का अर्थ प्रकाशित होता है। इन सब स्थलों में ज्ञाता और ज्ञेय (subject and object) का सम्बन्ध ही ऐसा होता है कि ज्ञाता या ज्ञेय स्वयं जैसा है वैसा ही रहकर केवल अपने तर्क (logic) के अस्त्रों का प्रयोग करके किसी तरह भी ज्ञेय या object का परिचय नहीं प्राप्त कर सकता, ज्ञेय ----का एक धुंधला आदर्श अन्तर में धारण करके वह अपने को रूपान्तरित करते -करते ज्ञेय (object) के आकार में क्रमशः आकारित होता रहता है एवं ज्ञेय (object) के सम्बन्ध में उसका ज्ञान या आस्वादन भी तदनु रूप होता रहता है। मनुष्य आनन्दायित होते-होते आनन्द को पहचानता है, प्रेमायित और सौन्दर्यमण्डित होकर सौन्दर्य और प्रेम को समझता है, मुक्त होकर मुक्ति के स्वरूप को जान पाता है, भगवद्भाव से भवित होकर भगवान् की सत्ता और स्वरूप के सम्बन्ध में निःसंशय हो जाता है। सुतरा, आदर्श के सम्बन्ध में एक धुंधली धारणा लेकर ही जीवन को एक ऐसे सुशुंखल रूप में परिचालित करना आवश्यक है, जिससे बुद्धि मार्जित, संस्कृत और सुस्थिर हो जाय, हृदय में हिंसा, द्वेष, घृणा, आदि विलीन हो जाँँ और प्रेम, मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि विकसित हो जायँँ, कर्मशक्ति भोग की दास्यवृत्ति को छोड़कर प्रेममयी सेवा वृत्ति में बदल जाय। इस प्रकार चलते-चलते चरम सत्य और चरम लक्ष्य का आंशिक आस्वादन होता है एवं क्रमशः पूर्णतर आस्वादन की योग्यता प्राप्त होती रहती है।

मानव जीवन की सार्थकता के बारे में आलोचना में प्रवृत्त होकर बहुत लोग यह प्रश्न उठाते हैं कि मनुष्य के जीवित रहने की ही क्या आवश्यकता है? जीवित रहनेके लिए क्लेषबहुल संग्राम में न पड़कर एवं जीवन के उद्देश्य सम्बन्धी जटिल समस्याओं के समाधान की प्रचेष्टा में बुद्धि को विभ्रान्त न करके, मृत्यु का आलिङ्गन करने में क्या हानि है ? विशेषतः, मृत्यु में ही जब जीवन की परिसमाप्ति है, तब मृत्यु को जितने ही शीघ्र वरण कर लिया जाय, उतने ही सहज जीवन सम्बन्धी सब झंझट मिट जायँँ।

जीवन्त मनुष्य के लिए इस प्रकार का प्रश्न बिलकुल स्वाभाविक नहीं है, सुस्थिता का लक्षण नहीं है। प्रथमतः मनुष्य निरन्तर अनेक लोगों को मरते हुए देखकर भी मृत्यु के कराल- गाल के सामने सर्वदा अवस्थित रह करके भी इस बात को कभी स्वीकार नहीं करता कि मृत्यु में ही जीवन की परिसमाप्ति है। इस बात को स्वीकार करना प्राण के स्वभाव के विरुद्ध है। प्राण का स्वभाव ही है मृत्यु के आक्रमण से आत्मरक्षा की प्रचेष्टा करना, चारों ओर मृत्यु के दूतों को प्रत्यक्ष देखकर भी उनकी परवाह न करके अपने को इस सँसार में सुप्रतष्ठित करने के लिए आत्मशक्ति का विकास साधन करना। प्राण के साथ मृत्यु का संग्राम इस जगत का एक सनातन विधान है। इस संसार में कभी मृत्यु की विजय, कभी प्राण की विजय दृष्टिगोचर होती है। प्रति मूर्त असंख्य जीव मृत्यु के मुख में पतित होते हैं। पर उनके भीतर से जगत में क्रमशः प्राण का विकास होता है, जड़ के ऊपर प्राण का राजत्व प्रतिष्ठित होता है, प्राण की अन्तर्निहित शक्ति नए-नए आकारों में, नए-नए सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्य के साथ आत्मप्रकाश करती है। सुतरां, प्राण स्वभावतः ही इस बात को अस्वीकार करता है कि उसकी गति मृत्यु की ओर ही है, एवं जगत में प्राण की स्वाभाविक साधना इस बात के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करती है। मृत्यु मानो प्राण के आत्मविकास का एक असाधारण उपकरण है। प्राण के सुष्ठुतर ओर उन्नततर विकास के मार्ग को साफ कर देने के लिए ही मानो विश्वविधान के द्वारा मृत्यु की नियुक्ति हुई है। विश्वविधान के अभ्यन्तर में मृत्यु की सहायता के अवलम्बन से प्राण की आत्म-प्रतिष्ठा की नीति वर्तमान रहने से ही प्रत्येक जीव, विशेषतः मनुष्य, मृत्यु की क्रिया को निरन्तर देखकर भी अपने अन्तर में इस बात को स्वीकार नहीं करता

कि मरण उसकी स्वाभाविक परिणीति है, जान में या अनजान में वह सभी क्रियाओं के भीतर से जीवन को ही विकसित करना चाहता है।

द्वितीयतः व्यक्तिगत जीवन में जीवनप्रवाह के अन्त में मृत्यु की गोद में विलीन हो जाना यदि प्राकृतिक विधान हो, तथापि जब तक जीवित हैं तब तक 'क्यों जियें' इस प्रश्न की कोई सार्थकता नहीं होती। प्राकृतिक विधान से जीवन मिला है और प्राकृतिक विधान से ही मृत्यु प्राप्त होगी। इस प्राकृतिक विधान नियन्त्रित जीवन और मृत्यु के बीच जीवन को हेय और मृत्यु को उपादेय मानने का क्या कोई कारण है ? जीवनकाल में यदि मृत्यु को वरणीय मान लिया जाय, तब तो मृत्यु स्वाभाविक नियम से उपस्थित होने वाली एक घटना- मात्र नहीं रह जाती, तब तो वह जीवन के आदर्श के आसन पर बैठ जाती है। मृत्यु को जीवन के आदर्शरूप में ग्रहण करने के लिए किसी उपयुक्त कारण का होना आवश्यक होता है। मृत्यु के बाद मिलने वाली अवस्था का यदि हमें साक्षात् परिचय होता एवं वह अवस्था जीवितकालीन अवस्था की तुलना में अधिकतर आनन्दप्रद और कल्याणमय जान पड़ती, तभी जीवन की अपेक्षा मृत्यु को वरणीय रूप में ग्रहण करने का कारण होता। किन्तु यह तो सम्भव नहीं। मृत्युलभ्य यदि कोई अवस्था होती एवं उसकी अनुभूति प्राप्त करना यदि सम्भव होता, तो उस अवस्था की अनुभूति प्राप्त करने के लिए भी जीवित रहना आवश्यक होता। सुतरां जीवित काल में क्यों जिऊँ? मर क्यों न जाऊँ ? ऐसे प्रश्नों के लिए कोई अवकाश नहीं रहता। जीवन और मरण जब स्वाभाविक घटनाएँ हैं, ता तो " नाभिन्देत मरणं नाभिन्देत जीवितम् ! कालमेव प्रतीक्षत निदेशं भृतको यथा " स्वभाव के नियम से जितने दिन या जितने क्षण जीवित हूँ, अच्छी बात है, जीवित ही हूँ, एवं मृत्यु जब आकर उपस्थित होगी, वह भी अच्छा है, मृत्यु को भी मुस्कराते हुए आलिङ्गन करूँगा। जीवन को जटिलतासंकुल समझ कर उसके हाथ से बचकर मृत्यु की गोद में आश्रय लेने की यदि चेष्टा की जाती है, तो उसके लिए जबाबदेही भी चाहिए।

सारांश यह है कि व्यक्ति जीवित तो है ही, उसको इस जीवित अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में जाना अनिवार्य होने पर "क्यों" ? यह प्रश्न उठता है। जब भी उससे कोई मरने के लिए कहता है, तभी वह प्रश्न करता है - "क्यों मरूँ?" - अर्थात् जीवन की अपेक्षा मरण को अधिकतर आकांक्षणीय क्यों मानूँ ? " जियूँ क्यों " ? ऐसा प्रश्न तो उठता ही नहीं क्योंकि वह तो जी रहा ही है। दूसरे पक्ष में, जिसके ऊपर मृत्यु का आक्रमण हुआ है, उसमें यदि क्षमता हो कि वह मृत्यु के साथ युद्ध करके बच सके, तभी उसके मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि वह बचने के लिए प्रयत्न करे या नहीं, मृत्यु की अपेक्षा जीवन को श्रेष्ठतर समझे या नहीं। सुतरां 'जियूँ क्यों'? यह मुमूर्षु का प्रश्न है, सुस्थ मनुष्य का नहीं।

मनुष्य जितने दिन जीवित रहता है, उतने दिन उसके चित्त में यह स्वाभाविक प्रश्न उठता रहता है कि वह किस प्रणाली से अपनी जीवनीशक्ति को नियन्त्रित करे, किस उद्देश्य को लेकर किस मार्ग से आगे बड़े, किस प्रकार अपने जीवन को सारकथ्यमंडित कर लेने में समर्थ हो जाये ? इसके बाद मृत्यु यदि स्वाभाविक नियम से आये तो आये; उसको लेकर माथापच्ची करने की ऐसी कोई आवश्यकता नहीं। यह प्रश्न मनुष्य के ही मन में उठता है क्योंकि वह अपने अन्तर में इस बात का अनुभव करता है कि उसने जिस जीवन को प्राप्त किया है, उसके परिचालन के सम्बन्ध में उसकी स्वाधीनता है, पूर्ण रूप में न होने पर भी आखिर आंशिक रूप में तो है ही। इस स्वाधीनता की अनुभूति के भीतर ही मनुष्य का वैशिष्ट्य है। मनुष्य जिस देश में, जिस काल में, जिस वंश में, जैसी सामाजिक, राष्ट्रीय और प्राकृतिक अवस्थाओं के भीतर जिस प्रकार के दैहिक, ऐंद्रीयिक और मानसिक शक्तिसामर्थ्य को लेकर जन्म लेता है, उस सम्बन्ध में उसकी कोई स्वाधीनता न रहने पर भी, इन सब शक्ति-सामर्थ्य और अवस्था-पुञ्जों के व्यवहार के सम्बन्ध में और

उनकी उन्नति करने के सम्बन्ध में उसकी स्वाधीनता है। यह स्वाधीनता जो है, इसीलिए मानव जीवन साधक जीवन है; इसी कारण उसके कर्तव्याकर्तव्य हैं, धर्माधर्म हैं उत्कर्षाकर्ष हैं; इसी कारण उसके जीवन में नाना प्रकार की समस्याएँ हैं, समस्याओं के समाधान की प्रचेष्टा है, व्यर्थता की वेदना और सार्थकता का गौरव है। ये सभी मानव जीवन के वैशिष्ट्य के निदर्शन हैं, श्रेष्ठत्व के परिचायक हैं। सुतरां मनुष्य होकर जन्म लेना और मनुष्य के समान जीवन धारण करना किस प्रकार सार्थक हो सके, यही मानवीय अहंबुद्धि का चिरन्तन प्रश्न है।

किसी प्रकार के वाद-विसम्वाद या सिद्धान्त (theory) के झगड़े में न पड़कर एक सत्य को सहज ही स्वीकार किया जा सकता है। वह यह है कि जीवन की सार्थकता जीवन के भीतर ही है, जीवन के बाहर किसी दूसरी चीज़ में नहीं। वस्तुतः जीवन ही जीवन का चिरन्तन आदर्श है। जीवमात्र की अन्तर्निहित स्वभावसिद्ध आकांक्षा है जीवन को परिपूर्ण रूप में आस्वादन करना। वे और जो कुछ भी चाहते हैं, वे सभी इस जीवन के पूर्णतर आस्वादन के उपकरण होते हैं। मनुष्य के हृदय में यह आकांक्षा जाग्रत भाव में आत्मप्रकाश करती है। मनुष्य को बुद्धि-पूर्वक स्वेच्छा से स्वाधीन प्रचेष्टा करके इस आदर्श की ओर अग्रसर होना पड़ता है। मनुष्य स्वभावतः बल चाहता है, मुक्ति चाहता है, सौन्दर्य चाहता है, कल्याण चाहता है। ये सभी स्वभावतः ही आदर्श रूप में उसकी जीवन-धारा को नियन्त्रित करते हैं। इन सब आदर्शों की अस्फुट धारणा को लेकर ही वह जीवन-पथ पर अग्रसर होने को बाध्य होता है। किन्तु ये सब आदर्श वस्तुतः भिन्न-भिन्न नहीं हैं, एक ही आदर्श के विभिन्न नामों ओर विभिन्न भावों में आस्वादन मात्र हैं। वही आदर्श वस्तुतः परिपूर्ण जीवन है। जीवन स्वरूपतः ही सुन्दर और मधुर है, तेजोमय और निर्भीक है, उज्ज्वल और निर्मल है, स्वतंत्र और स्वराट है। कल्याणमय और आनन्दमय जीवन ही वस्तुतः सद्वस्तु है। जीवन जिस हद तक मृत्यु के द्वारा वेष्टित और आच्छादित होता है, सत जिस हद तक असत द्वारा आक्रान्त होता है, 'हाँ' जिस हद तक 'ना' के द्वारा आवृत होता है, उसी हद तक जीवन के व्यावहारिक प्रकाश के भीतर कदर्यता और विरसता, दुर्बलता और भीतिविह्वलता, म्लानता और मलिनता, पराधीनता और परनिर्भरता, अमङ्गल और निरानन्द की अनुभूति होती है। जीवन इन सब दोषों को अपना निजस्व और चिरसंगी नहीं स्वीकार करता। इसीलिए वे सब हेय हैं। ये सभी प्रतिकूलवेदनीय भाव और अवस्थाएँ मानो जीवन के आपेक्षिक निषेधमात्र हैं - मृत्यु के द्योतक हैं - 'ना' शब्द वाच्य है। जीवन का आश्रय करके, जीवन से ही जीवनी शक्ति लेकर जीवन की सत्ता से ही सत्ता प्राप्त करके ये जीवन का ही निषेध करना चाहते हैं। जीवन के स्वरूप को आंशिक रूप में आवृत कर देते हैं, जीवन क्षुण्ण, म्लान, दुर्बल, मृत्युग्रस्त खण्डितरूप में प्रतीयमान करते हैं। जीवन इन सबको झाड़ कर फेंक देना चाहता है, इन सब उपाधियों के आवरण से अव्याहति प्राप्त करके अपने निज स्वरूप में प्रतिष्ठित होना चाहता है। शारीरिक पीड़ा, व्याधि, मानसिक शोक-सन्ताप, बुद्धि की मूर्खता - ये सभी जीवन के ऊपर मृत्यु के छायापात हैं, जीवन के वास्तविक रूप के आवरण हैं, जीवन की प्राकृतिक निर्जीवता हैं। हिंसा, द्वेष, घृणा, भीरुता और संकीर्णता, विषाद और अवसाद, क्लीब्ला और पराधीनता, विचारविमुखता और पुरुष्कारहीनता इत्यादि जो भी जीवन को संकुचित करते हैं, वे सभी मृत्यु के दूत माने जाते हैं। ये जीवन को अस्वीकार करना चाहते हैं, जीवन इनको अस्वीकार करता है। जीवन के लिए ये सब मानो निषेधात्मक गुण हैं - जीवन के निषेध (negative qualities, negation of life) हैं। जीवन अपने निषेधों (negations) के साथ युक्त होकर ही सीमाबद्ध होता है, खण्डित हो जाता है, क्षुद्र हो जाता है। इन निषेधों को निरस्त करके अपने को सम्यक रूप से आस्वादन करना ही जीवन की साधना है, एवं इस साधना में जिस परिमाण में सिद्धि प्राप्त होती है, उसी परिमाण में मानव जीवन की सार्थकता होती है।

अतएव negation विहीन जीवन या मृत्युमुक्त जीवन ही मानवीय साधना का आदर्श है। इस मृत्युहीन परिपूर्ण विशुद्ध जीवन का स्वरूप ही है परिपूर्ण आनन्द, परिपूर्ण मंगल, परिपूर्ण सौन्दर्य। उपनिषदों ने इसको 'अमृतत्व' कहा है - यही है यथार्थ (immortality सभी प्रकार के दुःखताप, जराव्याधि, बन्धन और संकोच से मुक्त हो जाने से ही इस जीवन का स्वरूप ही है मोक्षा मनुष्य का यह गौरव है कि इस नियत परिवर्तनशील जगत में इस नियत परिणामशील क्षणभंगुर देह ही में, उपयुक्त रूप से अनुशीलन द्वारा मनुष्य इस परिपूर्ण जीवन का - इस अमृतत्व और मोक्ष का - इस परिपूर्ण आनन्द, मंगल और सौन्दर्य का आस्वादन कर सकता है। यह परिपूर्ण जीवन का आस्वादन ही आत्मा का आस्वादन है। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, हृदय की समुचित साधना के आदर्शानुगत अनुशीलन के भीतर से ही इस मृत्युहीन जीवनमय आत्मा का प्रकाश और सम्भोग होता है।

अपने भीतर जीवन का जितना विकास होता है, अपने व्यक्तिगत जीवन को मृत्यु के ग्रास से - जीवनसंकोचक प्रभावों से - जितना ही मुक्त करके आस्वादन किया जाता है, नियत परिवर्तनशील विचित्र द्वन्द-संघर्षमय आपातमृत्युपरिव्याप्त इस विशाल जगत के अन्दर भी उतनी ही एक विराट अखण्ड मृत्युहीन जीवन की साक्षात् प्राप्ति होती है। एक अखण्ड अनन्त जीवन अपने भीतर, प्रत्येक मनुष्य के भीतर, प्रत्येक जीव के भीतर, प्रत्येक वस्तु और व्यापार के भीतर, विचित्र वीर्यश्वर्य-ज्ञान -प्रेम-सौन्दर्य-माधुर्य समन्वित होकर अपने को आप ही प्रकाश और संभोग कर रहा है, यह प्रत्यक्ष अनुभूत होने लगता है। जगत में जितना मृत्यु, जितना दुःख, जितना परिवर्तन, जितना वैषम्य, जितना संकोच आपाततः परिदृष्ट होता है, सभी उस अखण्ड परिपूर्ण जीवन के विचित्र प्रकाश की आनन्दलीला के उपकरण में उपभोग्य हो जाते हैं। यह अनुभूति ही आत्मा और परमात्मा का मिलन है, मनुष्य का भगवत्साक्षात्कार है। इस अनुभूति में स्थिति प्राप्त करने का नाम ही है ब्राह्मी स्थिति। जीवन के इस परिपूर्ण विकास का आस्वादन कैसा होता है, उसको कोई भी व्यक्त नहीं कर सकता। मन उसको अपने चिन्तन का विषय नहीं बना सकता, बुद्धि उसके स्वरूप का निरूपण नहीं कर सकती। भाषा में नाना भावों में, नाना प्रकार के रूपकों की सहायता से उसका इंगितमात्र देने की चेष्टा उपनिषदों के ऋषियों ने और परवर्ती काल के महापुरुषों ने की है। साधकगण अपने जीवन में साधना और सिद्धि के द्वारा उन सब इंगितों का तात्पर्य प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करते हैं।

मानव जीवन की इस साधना के साथ विश्वजगत की अन्तर्निहित साधना का घनिष्ठ योग रहता है। समग्र विश्व में अनादिकाल से एक विराट साधना चल रही है। वह साधना जीवन विकास की ही साधना है - जीवन की क्रमशः मृत्युमुक्त करने की साधना। प्रकृति-राज्य की इस साधना में जड़ का वक्षोभेद करके जीवन विकसित हो रहा है, अस्फुट जीवन क्रमशः स्फुटतर हो रहा है। जीवन क्रमशः जागरूक और स्वाधीन क्रियाशक्ति सम्पन्न हो रहा है। उसके भीतर विचारशक्ति, कल्पनाशक्ति और सृष्टिशक्ति का उदबोधन और विकास हो रहा है। जड़ के ऊपर जीवन का आधिपत्य प्रतष्ठित हो रहा है। इसी प्रकार जगत में क्रमशः पूर्णतर, और भी पूर्णतर, उससे भी अधिक पूर्णतर जीवन का विकास और आस्वादन हो रहा है। हम लोगों की पृथिवी-जननी की इस चिरन्तन साधना की सिद्धिरूप में मानव जीवन का प्रकाश हुआ है। मानव जीवन के परिपूर्ण विकास में मानव जीवन और विश्व जीवन का ऐक्य साक्षात् अनुभूतिगोचर होता है। तब विश्व का निज के भीतर एवं निज का विश्वमय रूप में आस्वादन होता है। जीवन का आनन्दास्वादन तब कसी स्थान से प्रतिहत होकर लौट नहीं आता, कहीं पर भी किसी प्रतिकूल वेदना का अनुभव करके क्षुण नहीं होता। व्यावहारिक जीवन में तब विश्वजनित प्रेम, निःसंशय तत्वानुभूति और निष्काम सेवावृत्ति प्रकाशित होती है।

मानव जीवन में विश्वजीवन की साधनाधारा (evolution)- स्वतन्त्र, सजग, प्रेमधारा में प्रवाहित होती है, एवं यह धारा परिपूर्णता पर पहुँचकर एक पूर्ण वृत्त (circle)सम्पादन करती है - श्रष्टि-प्रक्रिया के पूर्ण स्वरूप को प्रकाशित करती है। विश्वजीवन अर्थात् universal life की क्रमाभिव्यक्ति में स्वतन्त्रयाभिमानविशिष्ट अहंबोध के क्रमविकास में व्यष्टिजीवन (individual life) की परिपूर्णता द्वारा - आत्मास्वादनमय ज्ञानप्रेमानन्दमय विश्वजीवन (universal life) की पुनराभिव्यक्ति होती है। एक ही जीवन सृष्टिसाधना के भीतर बहुसंख्यक व्यक्तित्व प्राप्त करके अपने को पृथक-पृथक स्वतन्त्र सत्ताविशिष्ट स्वतन्त्र दायित्वसम्पन्न नानाविध मृत्युव्याप्त खण्ड जीवन रूप में अनुभव करता है और फिर इस व्यक्ति जीवन के क्रमविकास में ही पार्थक्य लुप्त हो जाता है, मृत्यु अतिक्रान्त हो जाती है, बहुत्व एकत्व में पर्यवसित हो जाता है, व्यक्ति और विश्व की ऐक्यानुभूति होती है। इस साधना के प्रत्येक स्तर में ही जीवन के विकास के साथ-साथ आनन्द का विकास, प्रेम और सौन्दर्य का विकास, ज्ञान और सत्य का विकास, शक्ति और मंगल का विकास होता है।

अब स्वभावतः ही प्रश्न उठेगा कि हमारे साधना जीवन में यह जीवनविकास की साधना किस प्रणाली से करनी आवश्यक है? उसके विषय में विशेष आलोचना इस प्रबन्ध में करना सम्भव नहीं है। बीजादि से वृक्षादि विकास के समान सर्वत्र ही जीवनसाधना के लिए अनुकूल उपकरण चाहिए। इन उपकरणों के पार्थक्य से साधना की वाह्य आकृति का पार्थक्य हो जाता है। हमारी रुचि और बुद्धि, दैहिक और मानसिक शक्ति और प्रकृति, पारिवारिक, सामाजिक, और राष्ट्रीय आवेष्टनी, शिक्षा-दीक्षा, और संसर्ग - ये सभी साधना के उपकरण हैं। जिस व्यक्ति को जिस प्रकार के ये सब उपकरण मिले हैं, उनका सम्यक व्यवहार करके ही उसे जीवन की पूर्णता सम्पादन करनी होगी। जीवनविकास के अनुकूल जीवन को मृत्युमुक्त करने के मार्ग में, इन सब वाह्य और आभ्यन्तर उपकरणों के यथोचित प्रयोग का नाम ही है - स्वधर्माचरणा। इन सब वाह्य और आभ्यन्तर उपकरणों के पार्थक्य के कारण मनुष्य के साथ मनुष्य के स्वधर्म का पार्थक्य होता है - एक के लिए जो कल्याणोत्पादक स्वधर्म है, दूसरे के लिए उसी का भयावह परधर्म असम्भव नहीं। इस हेतु पुरुष की साधनप्रणाली सर्वांश में युवा के अनुकूल नहीं होती, वृद्ध की साधनप्रणाली सर्वांश में युवा के अनुकूल नहीं होती, इत्यादि। अपने भीतर की और बाहर की अवस्थाओं को यथासम्भव समझ-बूझकर स्वधर्म का निरूपण करना आवश्यक है, एवं उनका जिस प्रकार व्यवहार करने से जीवन क्रमशः विकास को प्राप्त होता है, उसका निर्धारण करके साधना में प्रवृत्त होना आवश्यक है। निष्कपट भाव से विचारशक्ति का प्रयोग करना चाहिए। किन्तु यह सब होने पर भी यथार्थ रूप से सब समझ लेने की प्रत्याशा नहीं की जा सकती। साधना के साथ-साथ कितनी ही भूलों का पता लगता है और उनका संशोधन करना आवश्यक होता है। कारुणिक सज्जनों का परामर्श लेना आवश्यक होता है। जीवन की सार्थकता सम्पादन के लिए आवश्यक होता है। जीवन की सार्थकता सम्पादन के लिए भगवान् के प्रथम उपदेश का सर्वदा स्मरण रखना उचित होगा -

क्लैव्यम मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्व्युप्पद्यते ।

क्षुद्र हृदय दौर्बल्यं त्यक्तवेतिष्ठ परंतपः ॥

00000000

वास्तविक आनन्द कहाँ है ?

(रामदास जी)

मनुष्य कई तरह के उपाय करता है कि उसे आनन्द तथा शान्ति प्राप्त हो। कभी वह सोचता है कि धन एकत्र करके वह प्रसन्नचित हो सकेगा। कभी वह विचार करता है कि उच्च-पदवी ग्रहण कर वह प्रसन्नता को प्राप्त कर सकेगा। कभी वह सोचता है कि उच्च-कोटि की विद्या ग्रहण करने से ही प्रसन्नता मिल जाएगी। कभी वह इन्द्रियों के सुख की ओर भागता है और सोचता है कि जिस सुख और आनन्द की प्राप्ति वह करना चाहता है वह इनसे मिल जायेंगे। इस तरह से वह सुख की प्राप्ति के लिए कई प्रकार के उपाय करता है। ऐसे कथित सुखों की वस्तुएँ एकत्रित करके और अपनी सब कामनाओं को पूर्ण करके भी वह यही अनुभव करता है कि जहाँ से वह चला था वहीं पर है। बल्कि अपने आपको वह और गिरा हुआ पाता है।

महापुरुषों ने सुख के भेद को अनुभव किया और वह सब सहमत हैं कि सच्चे आनन्द की प्राप्ति के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह क्षणभंगुर के वाह्य साँसारिक वस्तुओं से अपने आपको दूर रखे तथा अपने अन्तर में, जो कि आनन्द का आधार है, घुसना चाहिए। इस आनन्द के आधार में शान्ति, प्रेम तथा ऐसा सुख है कि जिसमें कभी अन्तर नहीं आता। जो इस भेद को समझ लेता है वह चकित हो जाता है कि श्रष्टि के लोग क्यों कथित पदार्थों, उच्च पदवी, नाम तथा प्रसद्धि के पीछे उन्मत्त हो रहे हैं।

वह कौन सा दैवी आधार है जो स्वभाव से ही वास्तविक शान्ति तथा आनन्द का आधार है? इस सत्यता की व्याख्या साधारण मनुष्य नहीं कर सकता, परन्तु इसका वर्णन करने का महापुरुषों ने कुछ प्रयत्न किया है। यह सत्यता, सर्वज्ञ तथा महान शक्ति है जो सब वस्तुओं की एकता में व्यवस्थित होती है। वाह्य में अनेकता दीखती है परन्तु जब सत्यता का अनुभव होता है तब परमार्थी ऐसा अनुभव करता है कि अनेकता एकता का रूप लिए हुए है। इस सत्यता में सर्व-श्रष्टि समाई हुई है - इस वास्तविकता के अनुभव से एक महान आनन्द, शान्ति तथा स्वतंत्रता का ज्ञान होता है। इस अवस्था पर कोई वस्तु प्रहार नहीं कर सकती। सब महापुरुषों ने यही प्रयत्न किया है कि किसी तरह मनुष्य इस अनन्त आनन्द के ज्ञान को प्राप्त हो।

परन्तु प्रश्न उठता है कि यह अनन्त आनन्द कैसे प्राप्त किया जाये ? यह तो सभी जानते हैं कि जिस वस्तु की मनुष्य उत्सुकता से इच्छा करे वह उसको अवश्य प्राप्त कर सकता है। परन्तु ऐसा करने के लिए मनुष्य को अपनी इच्छा-शक्ति का प्रयोग करना होगा। उसे सब ओर से अपने मन को खींच कर इस ध्येय की प्राप्ति के लिए एकाग्र करना होता है। इसलिए महापुरुष कहते हैं कि मनुष्य एकाग्रता तथा मनन करने से महान सत्यता को प्राप्त हो सकता है। दैवी ज्ञान का सहारा लेते हुए हम कामनाओं, वासनाओं तथा अन्य कमजोरियों से ऊपर हो सकते हैं। जैसे-जैसे हम इस महान सत्यता का मनन करते हुए आगे बढ़ते जाते हैं, हमारा मन जो सहस्त्रों योनियों से बन्दी बना हुआ है, वह स्वतंत्रता की ओर आगे बढ़ता है। हमारे चारों ओर अहम का अंधकार छाया हुआ है। इस अंधकार ने हमारे अन्तर में जो स्वच्छता, सत्यता तथा ज्ञान है उसको उसने छिपाया हुआ है। जैसे-जैसे इस अंधकार से हमें निवृत्ति प्राप्त होती है, हम उस प्रकाश

में प्रवेश करते हैं जो हमारी सत्यता का स्वरूप है, जो अनन्त जीवन तथा शक्ति में एकता रखता है - जो अनन्त शान्ति का स्वरूप है।

एकाग्रता तथा मनन मनुष्य को समर्पण की ओर ले जाते हैं। उसके अहम को धीरे-धीरे ढीला कर देते हैं। इसके पश्चात् मनुष्य ईश्वर के चरणों में रहता है और उसकी स्थिति अनन्तता से एक रस हो जाती है या दूसरे शब्दों में ऐसा कहा जा सकता है कि वह अनन्तता, सरलता, शान्ति तथा आनन्द का ही स्वरूप बन जाता है। उसका स्वरूप सूर्य जैसा हो जाता है, जो अपना प्रकाश तथा ज्ञान दूसरों पर डालकर उन्हें अपना जैसा बनाने का प्रयत्न करता है। वह दिव्य शक्ति का स्वरूप हो जाता है, जिसके अन्तर में से प्रेम, अच्छाई तथा एकता की किरण निकलती है तथा वह दूसरों के अन्धकार, बुराई तथा मलीनता को शुद्ध करके अनन्त शक्ति में लय करने में सहयोग देता है।

साधारणतः मनुष्य अज्ञान तथा अशान्ति में ग्रस्त रहता है। परन्तु जब वह उन महापुरुषों का आश्रय लेता है जो अन्तर से विकसित होते हैं, उसके अन्तर में भी शान्ति, सात्विकता तथा ज्ञान का उदय हो जाता है। इसीलिए मनुष्य को स्वयं जब वास्तविकता का ज्ञान होता है तो इससे उसकी स्वयं की ही भलाई नहीं होती परन्तु उससे श्रष्टि का भी उद्धार होता है। उसके कारण श्रष्टि में एकता, शान्ति तथा आनन्द की किरणें चारों ओर फैल जाती हैं।

(रामदास जी)

राम सन्देश : सितम्बर, 1972।

शब्द

साधारण भाषा में किसी भी लिपि के अक्षरों के जो मिश्रण मुँह से बोले जाते हैं वे शब्द कहलाते हैं। दूसरी तरह से शब्द को अक्षरों का समूह समझ लीजिये। किन्तु संतों की भाषा इसे नहीं मानती। जो लिखा, पढ़ा और बोला जाय वह 'शब्द' नहीं है। शब्द दो प्रकार का है, एक वर्णात्मक, दूसरा ध्वन्यात्मक। वर्णात्मक शब्द के चार प्रकार हैं - (1) परा, (2) पश्यन्ति (3) मध्यमा, (4) बैखरी। अर्थात् एक शब्द वह है जो जिह्वया से बोला जाता है। दूसरा वह है जो धीरे-धीरे कण्ठ में बोला जाता है। एक शब्द वह है जो हृदय में बोला जाता है। (arterial murmurs)। एक शब्द वह है जो योगी-जन नाभि से हिलोरें उठाते हैं। ये चारों प्रकार के शब्द वर्णात्मक हैं। जिस शब्द का गुणगान सन्तजन करते हैं वह स्वतः अनुभव की वस्तु है। गुरु नानक साहिब कहते हैं कि,

" ऊँची पदवी ऊँचो ऊँचो निरमल सबदु कमाया "

अर्थात् यह बड़ी ऊँची गति है। जब वक्त के पूरे सतगुरु की दया हो और अभ्यासी की अपनी आन्तरिक कमाई हो तब शब्द की दौलत मिलती है। उसी शब्द की महिमा गुरु नानक साहिब इस तरह करते हैं - " अकखी बाभहु वेखणा " यानी इन आँखों से वह देखा नहीं जा सकता (वर्णात्मक शब्द तो लिखा जा सकता है और लिखे जाने पर आँखों से देखा जा सकता है) फिर कहते हैं - " विणु कंना सुनणा " अर्थात् वहाँ कान नहीं हैं जो उसे सुन सकें। " इउ जीवन मरणा " अर्थात् जब जीते जी मरेगा, नव द्वारों से ऊपर जायेगा तब वहाँ शब्द ध्वनित हो रहा है, यह ऊँची से ऊँची अवस्था है। इस शब्द में इतना आकर्षण है कि इसको सुनकर सुरत ऊपर खिंचती चली जाती है। दादू जी कहते हैं -

" अनहद नाद गगन गढ़ गूजा,

तब रस खाया अमी दा !"

जब अन्दर शब्द की गरज सुनी तो आत्मा देह को छोड़कर विदेह हो गयी। उस शब्द रूपी अमृत की अन्तर में वर्षा हो रही है जिसे रसास्वादन करके आत्मा को शक्ति और अवर्णनीय आनन्द प्राप्त होता है।

चक्र बन्धन वंश के महापुरुष संत कहते हैं कि शब्द सीधी सड़क है जो आत्मा को परमात्मा से मिला देती है। जब कृष्ण की वंशी बजती है तो उसकी ध्वनि सुनकर गोपियाँ व्याकुलता से घर का काम -काज छोड़कर कृष्ण के पास खिंची चली आती थीं, उन्हें अपनी देह की सुधि नहीं रहती थी और वे आनन्द विभोर होकर उस वंशी की ध्वनि को सुनती रहती थीं। 'कृष्ण' जो आकर्षण करे - वंशी की ध्वनि आन्तरिक अनहद नाद या ध्वन्यात्मक शब्द, गोपियाँ यानी इन्द्रियाँ। जब अन्तर में शब्द होता है तो इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं और सब तरफ से सिमट कर उस शब्द की ओर आकर्षित हो जाती हैं। सन्त कहते हैं कि यह अवस्था तब मिलती है जब यह जीव किसी ' मुर्शिदे -कामिल '(वक्त के पूरे सद्गुरु) से युक्ति लेकर जो 'नाम' वे बतावें उसकी कमाई करके नवद्वारों के ऊपर जाए। यह जो शब्द की ध्वनि है उसी को नाम कहते हैं।

गुरु या सतगुरु जिससे आन्तरिक शब्द या 'नाम' कि युक्ति प्राप्त होती है, वह कौन हैं? इसे पलटू साहब के शब्दों में समझिये :-

" धुनि आनें जो गगन की सो मेरा गुरुदेव !

सो मेरा गुरुदेव, सेवा में करिहों बा की

सब्द में है गलतान अवस्था ऐसी जाकी !!!

सच्चा गुरु वह है जो शिष्य की सुरत (आत्मा) का योग शब्द के साथ करा दे जो उन प्रत्येक चक्रों (nervous centres) पर हो रहा है,जिन पर आत्मा उतरकर जगह -जगह ठहरी है। तीसरे तिल से ऊपर के शब्द सूक्ष्म हैं। उन्हीं को पकड़ कर जब सुरत ऊपर को चढ़ेगी तब धुर-धाम में पहुँचेगी जहाँ उस शब्द की इस पिण्ड शरीर में पहले गूँज हुई। इस स्थान को सन्त लोग उस जगह स्थित बताते हैं जहाँ खोपड़ी के ऊपर आदमी चोटी रखता है।

प्रत्येक चक्र पर के शब्द की ध्वनि अलग-अलग है। कहीं मृदंग की सी, कहीं घण्टे की सी, कहीं वंशी की सी, कहीं वीणा की सी। उसी ध्वनि की गूँज के अनुसार अलग-अलग पंथों में महापुरुषों ने उन शब्दों के स्थानानुसार नाम रखे हैं जैसे कहीं ॐ, कहीं सोहं, कहीं राम, कहीं अल्लाह, सतनाम, राधास्वामी इत्यादि। यह सब गूढ़ अनुभव का विषय है जिसे वही जान सकता है जो सुरत शब्द योग का ऊँचा अभ्यासी है और मुर्शिदे -कामिल (सन्त सद्गुरु) की सौहबत उठाये हुए है।

साधारण जीवन में कहीं अनजानी, अनदेखी जगह जाना हो तो बड़ी कठिनाई होती है। लेकिन यदि कोई कह दे कि उस स्थान पर किसी कारखाने का भौंपू बोलता रहता है या अन्य कोई इसी प्रकार की आवाज़ होती है तो फिर वहाँ पहुँचने में सुगमता हो जाती है। इसी प्रकार सन्त अन्तर का भेद जानते हैं, रास्ता चले हुए होते हैं, उन्हें मालूम है कि कौन सी मन्ज़िल पर कौन सा शब्द हो रहा है। उन मन्ज़िलों और वहाँ के शब्दों का भेद तथा उस रास्ते पर चलने की युक्ति सन्तों से मालूम करके जिज्ञासु चले तो धुर-धाम यानी मालिक के धाम में पहुँचने में सुगमता होती है। इस आन्तरिक शब्द में इतनी चसक, इतना आकर्षण है कि एक बार तल्लीनता से उसे सुन लेने पर वह स्वयं ऊपर को खेंचता है।

अधिकतर सन्तों ने 'राम' नाम को शब्द का रूप दिया है। उसी राम नाम का सुमिरन अन्तर की जिह्वा से, मन से, आत्मा से, रोम-रोम से वे निरन्तर करते हैं, उसी में डूबे रहते हैं। इसी स्थिति को दादू जी ने " शब्द में है गलतान " कहा है। इस शब्द की महिमा अनन्त है। जो महापुरुष इस अवस्था को प्राप्त कर चुका है वही गुरु कहलाने लायक है, वही रास्ता दिखा सकता है। जिस शब्द रूपी अमृत का रसास्वादन वह स्वयं निशिदिन कर रहा है उसी अमृत का पान वह दूसरों को कराता है। लेकिन वह हो अधिकारी। अधिकारी कौन है ? जिसने संसार और उसके भोग-विलासों से मन को हटाकर ईश्वर के चरणों में लगाने का बज्र संकल्प कर लिया है। जो संसार की आग में अपने आपको जलता हुआ पाता है और उससे बच निकलने के लिए, अपनी आत्मा के उद्धार के लिए, सच्ची शान्ति प्राप्त करने के लिए पूर्ण रूप से जागरूक है। जो सबका आसरा छोड़कर सन्त सतगुरु की शरणागत हुआ है और दीन होकर विनती करता है कि " हे सतगुरु, हे सच्चे बादशाह, मुझे सच्ची राह दिखाओ जिससे मैं भवसागर के पार जा सकूँ "। गुरु रामदास जी कहते हैं -

" कृपा कृपा करि दीन हम सारिंग

इकु बूँद नाम सुख दीजै !"

हे वाहेगुरु, हे सतगुरु, मैं आपका एक दीन पपीहा हूँ, जिस नाम की आप महिमा करते हैं, कृपा करके उसकी एक बूँद मेरे मुख में डाल दीजिये।" वह वाहेगुरु, वह सतगुरु, इस राम नाम का किसको रंग चढ़ाता है - जिसने अपना मन उसको अर्पण कर दिया है। "लालनु लालु लालु रंगन मन रंगन कउ दीजै।" यह मन ही बाधा है। यही अन्दर का मार्ग रोके हुए है। सन्त कहते हैं कि यदि तू गहरा रंग चढ़ाना चाहता है, ऐसा रंग जो कभी न उतरे, तो मन-मता छोड़कर गुरु-मत हो जा, अर्थात् जो रास्ता गुरु बतावें उस पर चलकर शब्द को पकड़ ले।

जिसको नाम की दौलत मिल गयी। जो सन्तों के कहने पर चला, वह भवसागर से पार हो गया। वह राम राम जपते जपते स्वयं राम हो गया। उसके लिए कहा है -

" राम नाम तुलि अउर न उपमा !

जन नानक किरपा करीजै !!"

हम उन राम के प्यारों को राम ही क्यों न कह दें। जैसे जो बूँद सागर से मिल गयी, वह स्वयं सागर हो गयी। इसी तरह हरि का जन हरि में मिल गया अर्थात् एक हो गया।

तरीका क्या है ? दुनियाँ से वैराग और ईश्वर के चरणों में अनुराग। सतगुरु की खोज और उनके मिल जाने पर उनके कहने में चलना, यानी अपना मन उन्हें अर्पण कर देना। जो नाम वे देवें उसका लगन से, तन्मयता से, श्रद्धा, विश्वास और दीनता के साथ अभ्यास करना, चरित्र गठन और सत्संग, यथालाभ सन्तोष (राज़ी-व-रज़ा) और सतगुरु या मालिक के सिवाय किसी और का मौहताज न हो।

गुरुदेव अवश्य कल्याण करेंगे।

0000000

संत मत में गुरु भक्ति ही आधार है

कलियुग में भगवन्नाम ही मुख्य है। सर्व साधारण के लिए यही सुलभ, सरल और सर्व श्रेष्ठ साधन है। और इससे भी सुलभ है भगवत भक्तों की सेवा। यदि भाग्य से आपको ईश्वर प्रेमी मिल जाय तो उसका हाथ कस कर पकड़ लीजिये और अपना काम बना लीजिये। ग्रन्थों में लिखा है 'जो ईश्वर की पूजा तो करता है किन्तु भगवद्भक्त की पूजा नहीं करता, वह यथार्थ में भक्त नहीं है / उसे तो दाम्भिक ही समझना चाहिये। भगवान तो भक्त की पूजा से अत्यन्त सन्तुष्ट होते हैं। तुलसीदास जी कहते हैं :

" मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा

राम से अधिक राम कर दासा /"

दीन भगवान को सबसे अधिक प्रिय होते हैं। बिना दीन बने कोई प्रभु को प्राप्त नहीं कर सकता। जिन्हें अपने शुभ कर्मों का अभिमान है या अन्य साधनों का भरोसा है वे प्रभु की महती कृपा के अधिकारी कभी हो ही नहीं सकते। प्रभु तो अकिन्चन प्रिय हैं, निष्किंचन बनने पर ही उनकी कृपा के पात्र हो सकते हैं। तो यथार्थ में भगवन्नाम की प्राप्ति केवल इसी प्रकार हो सकती है। श्रद्धा की सीढ़ी पर चढ़कर, दीनता का सहारा लेकर उस अखिल अटल विश्वास पर पहुँच चाहिये। चाहें जो भी भाव हो, प्रेमी को अपनायें तो सम्पूर्ण रूप से ॥ उसी के सहारे के द्वारा आप अपने रोम-रोम में बसे हुए सतनाम को प्राप्त कर सकेंगे। अपनी छोटी और मैली बुद्धि से समझने की कोशिश मत कीजिये --भटक जायेंगे, अटक जायेंगे। श्रद्धा से आइये, आकर अपना काम बना लीजिये। चमत्कारों के हेर-फेर में मत पड़िये -- देखिए प्रेम की प्यास बढ़ती है या नहीं। यही आपकी उन्नति का प्रतीक है। पकड़ लीजिये, जकड़ लीजिये, वाह्य शक्तिओं द्वारा नहीं बल्कि मन से।

यहाँ अधिकारी अनाधिकारी का कोई भेद नहीं है। सब ही जाति, वर्ण के स्त्री-पुरुष सहारा लेकर भगवान के पाद-पदमों तक पहुँच सकते हैं। पूर्व जन्म के शुभ कर्मों से, प्रेमी के सत्संग से, जिसमें सतनाम की निष्ठा जम गयी हो उन्होंने सचमुच ही अपनी नरदेही का जन्म सफल बनाया। ध्यान, धारणा व समाधि इत्यादि सभी अवस्थायें यहीं प्राप्त हैं। देश, काल, स्थान, विधि तथा पात्रापात्र का भगवन्नाम में कोई नियम नहीं है। नाम-जप तो सब को सभी अवस्थाओं में कल्याणकारी ही है।

इस नाम जप में दस बड़े अपराध बताये गये हैं :-

१। सत्पुरुषों की निन्दा।

२। भगवन्नाम में भेद भाव (राम, कृष्ण रहीम, अल्लाह इत्यादि)

३। गुरु का अपमान

४।शास्त्र निन्दा।

५।भगवन्नामों में अर्थवाद (यानी सांसारिक उपलब्धि के लिये भगवन्नाम का सहारा लेना, न की

भगवत प्राप्ती के लिए)।

6। नाम का आश्रय ग्रहण करके पाप कर्मों में प्रवृत्त होना ।

7। धर्म -व्रत -जप आदि के साथ भगवन्नाम की तुलना करना ।

8। जो भगवन्नाम को सुनना न चाहते हों उन्हें नाम का उपदेश देना ।

9। नाम का महत्तम श्रवण करके नाम में प्रेम न होना ।

10। अहंता , ममता तथा विषय - भोगों में लगे रहना ।

ये दस नाम अपराध हैं ॥

राम संदेश - फरवरी , १९६२

00000000000000000000

सत्कथा, सत्संग, सदाचार

सारे क्लेशों का कारण ममता और अहंता है। ज्ञान की दृष्टि से नाम तथा रूप से अहंता निकालकर एकमात्र निर्विशेष ब्रह्म में अहंता करें, अर्थात् मुझमें भगवान के गुण इतने समाहित हो जायें कि स्वभाव व कर्म में मुझमें और भगवान में भेद ही न रहे। फिर जगत के पदार्थों और प्राणों में ममता अपने आप ही निकल जाएगी। यह विवेक, ज्ञान प्राप्त, सत्संग एवं सत्कथा से प्राप्त होता है। दूसरी ओर भक्ति की दृष्टि से अपना सारा अहम् भगवान के दासत्व में लगा दें यानी अपने आपको केवल भगवान का दास मान लें और अपना सारा ममत्व भगवान के चरणों में जोड़ दें। मैं और मेरा कुछ भी नहीं रहे, केवल तू ही तू रहे।

शरीर से भगवत्स्वरूप संसार की सेवा करें, मन से भगवान का चिन्तन करें, यह परम साधन है।

माता-पिता की सेवा और अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन कष्ट सहकर भी आनन्द पूर्वक, सौभाग्य मानकर करें।

दूसरे के अधिकार यथासाध्य पूरे कर दें और अपना कोई अधिकार नहीं मांगें, दूसरों की इच्छा को उसकी आशा से अधिक पूरी करें, दूसरों से स्वयं की इच्छापूर्ति की कोई आशा रखें ही नहीं।

संसार के सारे सम्बन्ध भगवान के निमित्त मानें। घर भगवान का, घर के प्राणी भगवत्स्वरूप, घर का काम भगवान की सेवा। जब तक भगवान इन वस्तुओं को रखें तब तक इन्हें अपना न मानकर भगवान के नाते सेव्य मानें और इनकी आदरपूर्वक सेवा करें। भगवान अपनी वस्तुओं को कहीं और भिजवा दें या सेवा करने वाले को ही दूसरी जगह भेजकर दूसरे सेवा सौंप दें, तो इसे खूब प्रसन्नता से स्वीकार करें। सेवा करनी है - ममता नहीं। प्रेम करके कुछ देना है, लेना नहीं।

सबमें सर्वथा भगवान के दर्शन करके सबकी सेवा करने वाला ही महापुरुष है। केवल मानव में ही नहीं, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, जड़-चेतन सभी में भगवान भरे हैं। भगवान ही उनके रूप में प्रकट हैं। यह अनुभव करके सबका हित, सबकी सेवा, सबको प्रणाम करें।

जो संतुष्ट है, निष्काम है, तथा आत्मा में ही रमण करता है, उसे जो सुख मिलता है, वैसा सुख काम लालसा और धन की इच्छा से दौड़ने वाले को कभी नहीं मिलता। धन और भोगों में सन्तोष न होना ही जीव के संसार बन्धन में पड़ने के कारण हैं। जो कुछ प्राप्त हो जाये उसी में सन्तोष कर लेने वाले को मुक्ति मिलती है, आवागमन से छुटकारा मिलता है, सत, चित, आनन्द का क्षेत्र प्राप्त होता है। भोगों की प्राप्ति से भोग कामना कभी शान्त नहीं होती बल्कि घी, ईंधन से प्रज्वलित होने वाली अग्नि की तरह अधिकाधिक बढ़ती है।

मनुष्य देह भगवत्प्राप्ति के लिए मिली है, भोग प्राप्ति के लिए नहीं। मानव की मानवता तभी सिद्ध होती है जब वह भगवान की प्राप्ति के साधनों में लगकर, अपने जीवन को सर्वस्व भगवान के अनुकूल बना लेता है या बनाना चाहता है। भगवान ने अपने को छुपाकर तुम्हें प्रकट किया है, तुम्हारा कर्तव्य है कि अपने को छुपाकर भगवान को प्रकट कर दो। यही जीवन का आदर्श है।

शरीर से होने वाले पाप - बड़ों की सेवा न करना, अपवित्र रहना, अकड़े रहना (रूप व नाम) ब्रह्मचर्य नाश करना, किसी को चोट पहुँचाना - ये शरीर के द्वारा होने वाले पाँच पाप हैं।

वाणी द्वारा पाप - ऐसी वाणी बोलना जिससे सुनने वाले को उद्वेग हो या उत्तेजित हो जाये, जो असत्य हो, जो कटु हो, जिससे अहित हो और जो भगवान के गुणों एवं नाम से रहित हो - ये वाणी से होने वाले पाँच पाप हैं।

मन द्वारा पाप - मन से दुखी रहना, कठोर रहना, व्यर्थ चिन्तन करते रहना, अशुद्ध भावों से दूषित रहना और चंचल बने रहना - ये मन से बनने वाले पाँच पाप हैं।

इन पापों से बचो और इन्हें छोड़ कर शरीर से देव-द्विज महान ज्ञानी और केवल एक मात्र अँधेरे से निकालने वाले गुरु का पूजन करो। शौच सीधापन (चटक मटक व अकड़ना छोड़कर) ब्रह्मचर्य का पालन और अहिंसा का सेवन करो। वाणी से उत्तेजना रहित, सत्य, मधुर और हितकर वचन बोलें तथा निगरानी रखें ताकि वाणी-पुण्य से वंचित न रहें एवं मन के दुःख को प्रसन्नता, कठोरता को सौम्यता (सुशील), व्यर्थ चिन्तन को मौन, (एवं भगवान के नाम गुणानुवाद - मनन) चंचलता को मन के निग्रह और अशुद्ध भावों को भाव शुद्धि द्वारा सदा अभ्यास करते रहें।

(1) किसी के लोभ या भय से सत्य या धर्म का त्याग न करें बल्कि सत्य एवं धर्म की रक्षा के लिए अपने जीवन को न्यौछावर कर दें।

(2) दूसरे के दुःख कभी अपना सुख न मानें एवं बनावें। अपना सारा सुख देकर दूसरे के दुखों का हरण करें और उसे सुखी बनावें तथा इसी में परम सुख का अनुभव करें।

(3) जितने से अपना पेट भरे उतने पर ही अपना हक है। इससे अधिक को अपना मानना चोरी है जो दण्डनीय है। सबका हक यथायोग्य देकर केवल अपने हक से ही अपना जीवन चलावें।

(4) दूसरे सबको उनका स्वत्व देकर बचे हुए को प्रसाद रूप से खाना अति उत्तम भोजन है। इस अभ्यास से पाप नाश होते हैं। क्योंकि सब पापों की जड़ पेट ही है। जो केवल अपने लिए ही कमाता खाता है, वह तो पाप खाता है।

(5) अपने पास संग्रह करें ही नहीं। यदि कोई वस्तु या धन सम्पत्ति अपने पास हो तो अपने को उसका स्वामी न मानें, ट्रस्टी मानें, और उस वस्तु को ट्रस्ट की सम्पत्ति मानें तथा यथायोग्य नियमानुसार उसका भगवत्सेवार्थ जन सेवा में खुले हाथों उपयोग करता रहे और उसमें अपना कुछ भी श्रेय न समझें, भगवान की असीम कृपा जानें और उनको कोटि-कोटि धन्यवाद दें।

(6) किसी को कुछ देकर न उस पर अहसान करें, न उससे कृतज्ञता या बदला चाहें, न गिनावें, - उसी की वस्तु उसे ही दी गयी है, यही समझकर इसे भूल जावें।

(7) अपने द्वारा किसी का कभी कुछ हित हुआ हो, उसे भूल जायें। दूसरे के द्वारा कभी अपना अहित हुआ हो उसे भूल जायें। दूसरे के द्वारा अपना कुछ हित हुआ हो, उसे याद रखें और अपने द्वारा कभी किसी का अहित हुआ हो उसे याद रखें - भगवान से प्रार्थना करते रहें कि मुझ जैसे कमजोर प्राणी से ऐसा फिर कभी न हो।

(8) जैसे थोड़ा सा भी कोढ़ सुन्दर शरीर को बिगाड़ देता है, वैसे ही तनिक सा भी लोभ यशस्वी पुरुषों के शुद्ध यश और गुणी पुरुषों के प्रशंसनीय गुणों को नष्ट कर देता है।

(9) धन द्वारा अनर्थ - चोरी, हिंसा, झूठ, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अहंकार, भेद बुद्धि बैर, अविश्वास, स्पर्धा, लम्पटता, जुआ और शराब - यह पन्द्रह अनर्थ मनुष्य मात्र में धन द्वारा उत्पन्न होते हैं। बुद्धिमान पुरुष को इनकी इच्छा नहीं करनी चाहिए और मिल जाय तो तुरन्त उसे भगवान की सेवा में लगा देना चाहिए।

(10) धन, उत्तम कुल, रूप, तपस्या, वेदों का अध्ययन, अोज, तेज, प्रभाव, बल, पुरुषार्थ, बुद्धि और योग - इन बारह गुणों से युक्त प्राणी भी यदि भगवान की स्मृति से वंचित है तो उससे वह नीचे वाला इन्सान श्रेष्ठ है जिसने मन, वचन, कर्म, धन, प्राण सब कुछ भगवान के चरणों में समर्पण कर दिया है, यानी सब कुछ भगवान का ही समझकर जीवन व्यतीत करता है।

(11) संसार बड़ा स्वार्थी है। यह दूसरों के संकट को नहीं जानता। जानता होता तो किसी से कोई याचना नहीं करता और जो देने में समर्थ है वह मांगने पर कभी इन्कार नहीं करता।

(12) संकल्प त्याग के द्वारा काम को जीते, काम के त्याग से क्रोध को जीते, धन से होने वाले अनर्थों को दृष्टि में रख कर लोभ का त्याग करें तथा तत्व विचार द्वारा भय को जीतें।

(13) किसी के नाम के बहाने, परिहास में, गति के अलाप आदि के लिए अथवा अवहेलना से भी लिया हुआ भगवान का नाम सब पापों का नाश करता है। अनजाने में अथवा जानकर उच्चारण किया हुआ जो भगवन्नाम है, वह मनुष्य को पाप की कमाई को इस तरह जला देता है जैसे आग ईंधन को।

(14) महान पापी भी यदि भगवान को एकमात्र शरणदाता मानकर उनको अनन्य भाव से पुकारता है तो वह साधू ही माना जाता है।

(15) भगवान की कृपा में जितना बल है, उतना पापी के पाप में नहीं। भगवान की सभी शक्तियों में कृपा शक्ति सबसे बड़ी है।

(बी। शंकर)

सत्संग

(डॉ। ब्रजेन्द्र कुमार सक्सेना)

जिस संग से मन सत की ओर रुजू होता है उसे सत्संग कहते हैं। सत पुस्तकों का अध्ययन, सत पर चलने वाले भाइयों, साधुओं व सत स्वरूप संतो का संग सत्संग कहलाता है। सत्संग में मन की तमोगुणी एवं रजोगुणी प्रवृत्ति दब जाती है व सतोगुण उभर उठता है जिससे सुरत उलट धार चलने लगती है। इसीलिए सत्संग की विशेष महिमा है - यह परमार्थ का विशेष अंग है।

सत्संग का प्रभाव अवश्य पड़ता है। जो अवस्था अपने पुरुषार्थ से आसानी से पैदा नहीं की जा सकती वह सत्संग में से पैदा हो जाती है। कारण यह है कि वातावरण या संग में जिस गुण का प्राधान्य होता है उसकी तरंगे हमारे विचार से टकरा कर वही गुण उभार देती हैं। यह तरंगें सत के लिए जितने ऊँचे मुकाम से उठ रहीं होती हैं उतना ही सत्संग का फायदा होता है।

जिस सत्संग में सन्त सद्गुरु विराजमान हों वहाँ गुणों से ही परे प्रेम की धारें हर सत्संगी के मनोआकाश में प्रवेश कर उसे सीधे प्रेम के भण्डार की ओर आकर्षित करती हैं। अपने सिलसिले में यही सत्संग खास तौर पर किया जाता है ताकि सत्संगी को असल प्रेम के भण्डार का परिचय मिले और सुरत केंद्र की ओर चढ़े व मन के विकारों से ऊपर उठकर शक्ति व प्रेम प्राप्त करे। इसी सत्संग से बुद्धि शुद्ध होती है व विवेक पैदा होता है।

आन्तरिक सत्संग में बैठ कर हमको चाहिए कि दिल को हाज़िर रखकर अपने मनोआकाश को सतगुरु के प्रेम की धारों से संतृप्त करें और सुरत को ऊपर उठने दें। इस तरह अपनी सुरत गुरु की तवज्जह की धार से पूर्णतया मिला दें तो इसी का नाम सच्चे मायनों में योग है - बाकि सब अभ्यास योग साधन है जिनको सत्संग के समय करने की मुख्यता नहीं है।

सद्गुरु के प्रवचनों के समय भी वही अमृतमयी धार शब्द रूप में बहती है। हज़ूरी के साथ अमृत वचनों का पान करने में विशेष लाभ होता है। सुरत का सद्गुरु की धार से मेला होने के कारण बुद्धि शुद्ध अवस्था में होती है - चित स्थिर होता है। अतः प्रवचनों का नकश बुद्धि पर पूरा पड़ता है। इससे निश्चयात्मकता आती है - भ्रम दूर होते हैं - गूढ़ बातें समझ में आने लगती हैं व रास्ता चलने के लिए साहस एवं स्फूर्ति मिलती है।

यह सत्संग बड़े भाग्य से और परमात्मा की कृपा से प्राप्त होता है। बिना इसके जीव सच्चे परमार्थ में नहीं लग सकता। संत तुलसीदास जी ने सन्तों के इस संग की महिमा और आवश्यकता जहाँ तहाँ बहुत ही सुन्दर शब्दों में स्पष्ट की है। उनका कथन है -

बिनु सत्संग विवेक न होई ! राम कृपा बिनु सुलभ न सोई !!

सब कर फल हरि भगत सुहाई ! सो बिनु संत काहु नहिं पाई !!

भगति स्वतन्त्र सकल सुखवानी ! बिनु सत्संग न पावहि प्राणी !!

पुन्य जपुं बिनु मिलहि न संता ! सत्संगति संसृत कर अंता !!

अर्थात् विवेक बिना 'सत्संग' के पैदा नहीं होता/ भक्ति" जो कि सब साधनों का फल है और सब सुखों की खान है,
बिना सन्तों के संग के प्राप्त नहीं होती और बिना पुण्यों के सन्त नहीं मिलते/

000000

साधना के सन्दर्भ में ज़िक्र और फ़िक्र

(श्रीमान डॉ. हरनारायण सक्सेना, जयपुर)

ज़िक्र और फ़िक्र दोनों शब्द उर्दू भाषा में अरबी भाषा से आये हैं। ज़िक्र का अर्थ जाप और फ़िक्र का अर्थ विचार अथवा ध्यान से है।

हमारे श्रीमान लाला जी महाराज (ब्रह्मलीन परमसन्त श्री रामचन्द्र जी महाराज) की ही परम्परा के एक बड़े संत हुए हैं, आपने एक बार अपने एक वरिष्ठ शिष्य से प्रश्न किया, "बेटे, यह बतलाओ कि दिल बड़ा है या दिमाग़।"

ये शिष्य प्रशासनिक सेवा के एक बड़े अधिकारी थे और उस समय कार्यरत थे। आपने थोड़ा विचार करके उत्तर दिया, " हुज़ूर, मेरी समझ में तो दिमाग़ बड़ा है। " सम्भवतः सभी इस प्रश्न का यही उत्तर देते।

पुनः प्रश्न हुआ - " दिमाग़ ख़राब हो जाये तो क्या होता है ?"

उत्तर - "हुज़ूर, आदमी पागल हो जाता है। "

प्रश्न - "और दिल ख़राब हो जाये तो क्या होता है ?"

उत्तर - "हुज़ूर, आदमी मर जाता है।"

प्रश्न - " तो बेटे, कौन बड़ा हुआ ?"

उत्तर - " हुज़ूर, इससे तो यही लगता है कि दिल बड़ा है। "

आपने फ़रमाया, "बेटे, दिल बादशाह है और दिमाग़ उसका वज़ीर है। "

हमारे पाठकों को अवश्य ही यह उत्सुकता होगी के यह प्रश्नकर्ता कौन महापुरुष थे ? प्रश्नकर्ता तो परमसन्त सद्गुरु हाज़ी मौलाना नवाब अब्दुल ग़नी खां साहिब, भोगांव निवासी थे जो श्रीमान लालाजी महाराज के चाचा -गुरु थे तथा उनके शिष्य श्री कैलाश नाथ भटनागर - पीसीएस के वरिष्ठ अधिकारी थे जो सन १९७२ से रिटायर्ड हुए और लखनऊ में निवास करते थे। यह घटना उन्हीं की बतलायी हुई है।

हमें देखना चाहिए कि हमारे गुरु भगवान श्रीमान लाला जी महाराज इस विषय में क्या आदेश देते हैं। आपके एक लेख का अंश है -

1) फ़िक्र (विचार अथवा ध्यान) करने वाले का साथी नफ़स (मन) है और ज़िक्र (जाप) करने वाले का साथी मालिके कुल (सबका स्वामी) है।

2) फ़िक्र में इधर-उधर भटकाव हो सकता है और हो जाता है क्योंकि इसमें दखल मन, बुद्धि, अहंकार का है जबकि ज़िक्र (जाप या शब्द) में डोरे जैसा लगाव सिर्फ परमात्मा का ही है क्योंकि वह धुर-पद से सम्बन्ध रखता है और इसमें धोखा मुश्किल से होता है।

3) विचार शक्ति तो बुद्धि तत्व से आयी है और शब्द धुर भण्डार से।

4) फ़िक्र से ज़िक्र को ज़्यादा वक्त और तरतीब (श्रेष्ठता और वरिष्ठता) है क्योंकि जाप और शब्द मालिके-कुल का गुण है जबकि फ़िक्र में ऐसा नहीं है।

5) ज़िक्र, फ़िक्र के ताबेह (निर्भर) नहीं है पर फ़िक्र ज़िक्र के ताबेह है।

हृदय (दिल अथवा सूफी भाषा में " कल्ब ") की वरिष्ठता उपरोक्त दोनों ही परमसंतों के शब्दों से इतनी स्पष्ट है कि किसी को भी इस पर सन्देह करने का कारण नहीं बनता। अतः हम सभी को हृदय के जाप को इस प्रकार अपनाना चाहिए कि 24 घण्टों में एक क्षण भी इस जाप से खाली न रहें। अभ्यास और गुरु-कृपा से यह सम्भव और सरल हो जाता है।

ध्यान, समाधि आदि के पीछे पड़े रहना साधकों के लिये सही दिशा नहीं है। वह स्थिति तो जाप के परिपक्व होने पर स्वतः ही आ जायेगी तथा फिर उसमें किसी प्रकार के भ्रम, भटकाव का भी भय नहीं रहेगा।

गुरुदेव हम सबका कल्याण करें।

स्वयं को शिवानी के चरणों में अर्पित कर दो

(परम संत डॉ अक्षय कुमार बनर्जी साहब)

परमात्मा नित्य है और उसकी लीला भी नित्य है। जो पूर्ण है वह अपनी पूर्णता का रसास्वादन करते हैं। अपनी अपूर्णता के भी जो आनन्द हैं, वह द्वन्द के भीतर रसास्वादन करते हैं। Infinite (अनन्त) Finite (परिमित) के अन्दर रसास्वादन करते हैं। यही है परमात्मा का स्वभाव। जो वैचित्र्य में जन्म लिया है वही परमात्मा का स्वभाव है, परन्तु जो देशकाल में फँस गया है वही ऊर्ध्व (ऊपर) जाने की कोशिश करते हैं।

एक है मायातीत की गति, एक है मायाधीन। ऐसी एक लीला चल रही है। जो जीव है वह शिवत्व प्राप्त करना चाहता है जो शिव है। वह जीव रसास्वादन करना चाहता है। क्योंकि शिव तो सदैव आनन्द का भोग करते हैं। अंश अंशी की ओर, और अंशी अंश की ओर बढ़ता है। जीव कहते हैं आप जो परमात्मा का रसास्वादन करते हैं वह हमको दीजिये। जब जीव ऐसा सोचते हैं तब वही परमात्मा गुरु रूप में उनको ऐसा रसास्वादन कराते हैं।

जो जोग जीवात्मा होता है वही सबको अपने भीतर देखते हैं। दुःख तो अपूर्णता का लक्षण है। ये सब द्वन्द अपूर्णता के लक्षण हैं और जब हृदय पूर्ण हो जाता है तब सब द्वन्द मिट जाता है, तब पूर्णता को प्राप्त हो जाता है। रजोगुण तमोगुण का प्रभाव उन पर नहीं आता। रक्षा और लाभ के लिए उनमें कोई चेष्टा न भी हो तभी आत्मा लाभ है। ऐसा देखने की दृष्टि ही साधना है। द्वन्द भाव हटाकर सबमें आत्म स्वरूप परमात्मा देखें। यहाँ भी पूर्ण, वहाँ भी पूर्ण, वह भी पूर्ण और जो होगा वह भी पूर्ण। पूर्ण से ही पूर्ण का प्रकाश है। एक स्वयं पूर्ण परमात्मा ने बहु विश्व की रचना की तो वह तो सभी पूर्ण हैं। पूर्णता ऐसा कुछ नहीं जो लाभ करने से होगा। गुरु उपदेश देते हैं कि तुम खुद पूर्ण हो और अपने अन्तर में उसका रसास्वादन करो। किन्तु जब हम बहिर्मुख होकर एक अपूर्ण से दूसरी अपूर्णता की ओर जाते हैं तब जीव दुःख द्वन्द में पड़ जाता है।

अपने अन्तर में परमात्मा और विश्व प्रपंच में भी सर्व भूतेषु परमात्मा का दर्शन देखो। गुरु जी की शिक्षा है अपने अन्तर में चिन्तन करो। परमात्मा का जो नाम अच्छा लगे उस पर ध्यान दो और ध्यान देकर आनन्दमय हो जाओ और जब ध्यान गम्भीर होता है तब जीवात्मा आनन्दमय हो जाता है। गुरु यह नाम देता है जो अपूर्णता से छूट कर इस आनन्द को चाहता है वही इसका अंशी है। किन्तु जो विश्व प्रपंच में तृप्ति चाहता है उसके पास यह प्रकाश नहीं आता।

Demand and supply (मांग और पूर्ति) का नियम यहाँ लागू होता है। जो संसार चाहते हैं उन्हें संसार देते हैं पर जो नहीं चाहते, कहते हैं संसार तुम्हारा है, तो भगवान उन्हें आत्म प्रकाश देते हैं। जब तक संसार में आसक्ति है तब तक आत्मा के ऊपर आवरण है। परन्तु जब यह आसक्ति नहीं होगी तब यह संसार तो ऐसा ही रहेगा पर आसक्ति छूट जायेगी, मैं और मेरा संसार का भेद समाप्त हो जायेगा।

परमात्मा की लीला है, इसका कोई आदि अन्त नहीं है, किन्तु व्यक्त और अव्यक्त अवस्था है। जैसा जीव का है जागृति और सुषुप्ति वैसा ही परमात्मा का भी है। कभी संहार है कभी श्रष्टि। Ego (अहं) अपने को स्वाधीन मानने में है।

Ego ही भगवान् की लीला का मुख्य साथी है। यदि मनुष्य की श्रष्टि नहीं होती तो यह लीला नहीं होती। अन्य प्राणी और जड़ पदार्थ की लीला नहीं होती। मनुष्य को ही भगवान् ने वह शक्ति दी है कि विद्रोह करे भगवान् के प्रति। जब वह भगवान् के प्रति विद्रोह करते हैं तब असुर हैं पर जब वह संसार लाभ करके परमात्मा का चिन्तन करते हैं, तब वह देवता हैं। परन्तु जो इन सब से ऊपर उठकर जड़ चेतन से अलग होकर परमात्मा को प्राप्त करते हैं वह सच्चा जोगी है। वह सुख दुःख, द्वन्द्व निर्द्वन्द्व के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

हिन्दू शास्त्र में एक विचित्र बात है। नारी की शक्ति पुरुष को शिव मानते हैं। शक्ति से ही सब सृष्टि की रचना है। परन्तु यदि शक्ति का शिव से मिलन न हो तो वह भी अमंगलमय है। अतः नारी को जननी माने या शिवानी। जब उसे शिवानी माने या जननी मानते हैं तब वह मंगलमयी कल्याणकारी होती है किन्तु जब भोग करना चाहते हैं नारी मानकर, तब वह संहार कारणी बन जाती है। देवी शक्ति तब होती है जब उसे माँ करके मानें। महाजोगी के लिए महामाया से उत्तीर्ण होना बड़ा मुश्किल है। जब तक जोगी के अन्तर में नारी के लिए कामिनी भाव है तब तक पूर्णता नहीं है। लेकिन जब शिशु बनकर नारी को मातृभाव करके माने तब वह सच्चा जोगी है।

भगवान् शिव के तीन भक्त जिनमें गुरु गोरखनाथ भी थे, शिव साधना में लीन थे। उनकी साधना को देखकर एक दिन माँ पार्वती ने शिव जी से पूछा - "प्रभो ! आपके तीन भक्तों में से सच्चा भक्त कौन है ?" माँ के प्रश्न से शिव मुस्कराये और बोले - " प्रिय ! ये तीनों ही मेरे परम भक्त हैं, इनके सम्मुख ब्रह्माण्ड के समस्त बैभव फीके हैं। " पार्वती जी बोलीं - " भगवान्, कल से मैं इनकी परीक्षा लूँगी। " दूसरे दिन पार्वती जी ने तीनों साधुओं को अपने घर भोजन के लिए बुलाया। मोहिनी रूप धरके पार्वती जी भोजन परोसने लगीं। पहले साधु ने मोहिनी मूर्ति को देखकर मन ही मन बड़ी प्रशंसा की। दूसरे ने सोचा ऐसी कामिनी के सन्मुख तो सब बैभव जप तप व्यर्थ है, किन्तु जब वह गुरु गोरखनाथ के पास पहुँची तब गुरु गोरखनाथ ने माँ के चरणों पर अपना मस्तक झुका दिया और बोले - " माँ, तुम्हारे चरणों में मेरा मस्तक सदा झुका रहे और तुम्हारा आशीष में पाता रहूँ, यही मेरी कामना है। " माँ पार्वती ने शिव से आकर कहा - " प्रभु ! आपके इन तीनों भक्तों में से केवल गोरखनाथ ही सच्चा भक्त है। " वह मायातीत के बैभव से परे हटकर पूर्ण जोग को प्राप्त हो चुका है। "

संसार छोड़कर जोगी बनना तो आसान है परन्तु संसार में रहकर जब इतना निर्विकार हो जाय तो आशक्ति होगा। संसार में नारी तो मोहिनी रूप है, उसको मातृ-मूर्ति में बदलना होगा। जोगी को हर चक्र में मातृ-भाव का अनुभव करना चाहिए, अपनी शक्ति तो कुछ नहीं है, सब में शिव शक्ति को देखो। समझो, मैं तो कुछ भी नहीं हूँ, शिशु हूँ, कुछ नहीं कर सकता। मैं असहाय हूँ, सब माँ करने वाली हूँ, ऐसा सोचने से अहंकार अशक्त हो जाता है। Ego (अहं) की जय करने के लिए शिशु बन जाना ज़रूरी है। भगवती माँ के हाथों में चुपचाप बालक की भांति रहो। अपनी सत्ता को पूर्ण रूप से उनके चरणों में अर्पित कर दो।

(संकलन कर्ता - शान्ता श्रीवास्तव)

हिन्दू धर्म - उसका शरीर और आत्मा

(संतप्रवर आचार्य अक्षय कुमार बंद्योपाध्याय (बैनर्जी) महाराज)

प्रत्येक सत्यान्वेषी को यह स्पष्टतः विदित है कि हिन्दू धर्म का स्वरूप ईश्वर, आत्मा, श्रष्टि एवं मानव जीवन के ध्येय के सम्बन्ध में किसी वाद-विवाद को स्वीकार करना, किन्हीं विशिष्ट क्रियाओं का अनुष्ठान तथा वाह्य क्रियाओं का पालन एवं उपासना की विशिष्ट पद्धतियों का अनुसरण अथवा किसी खास पैगम्बर अथवा ईश्वरीय दूत को बिना ननु-नच किये प्रमाण मानना नहीं है। इन सब प्रश्नों के विषय में हिन्दू धर्म मानवीय बुद्धि एवं हृदय दोनों को पूर्ण स्वतंत्रता देता है। ईश्वर को जगत का कर्ता एवं नियंता न मानना, आत्मा को नित्य एवं चेतन तत्त्व स्वीकार न करना, तथा मुक्ति को आत्मा की शाश्वत आनन्दमयी स्थिति अंगीकार न करना भी हिन्दू धर्म की दृष्टि में कोई अक्षम्य अपराध नहीं माना गया है। हिन्दू धर्म ने ऐसे लोगों को भी अवतार अथवा ऋषि मानने में आगा-पीछा नहीं किया है जिन्होंने ईश्वर तथा आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया, किन्तु जो वैसे महान आध्यात्मिक पुरुष थे। हिन्दू धर्म का कभी यह तकाज़ा नहीं रहा कि मानवीय विचार, भावना तथा इच्छाशक्ति पर अनुचित रोक-टोक लगायी जाय।

इसके विपरीत हिन्दू धर्म ने सदा इस बात को डंके की चोट कहा है कि मनुष्य स्वरूपतः सभी बन्धनों से मुक्त है और अपने स्वतंत्र पुरुषार्थ के बल से पूर्ण स्वातंत्र्य प्राप्त करना ही उसके जीवन का सर्वोच्च आदर्श है। हिन्दू धर्म की यह मान्यता है कि यद्यपि स्वतंत्रता पर मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है, फिर भी इस जगत में वाह्य एवं आन्तरिक - शारीरिक एवं मानसिक - परिस्थितियाँ दुर्भाग्यवश उसकी इस स्वतंत्रता को कम कर देती हैं, अतः प्रत्येक मनुष्य का ध्येय यह होना चाहिए कि जितनी स्वतंत्रता उसे प्राप्त है, उसका वह पूर्ण स्वतंत्रता - सब प्रकार के बन्धनों एवं उपाधियों से मुक्ति - पाने के लिए उपयोग करे। इसीलिए हिन्दू धर्म मानवीय आत्मा के निर्वाध विकास पर किसी प्रकार का निग्रहपूर्ण नियंत्रण नहीं लगाता बल्कि वह प्रत्येक पुरुष, स्त्री, एवं बच्चे की बुद्धि को अन्धकार से मुक्त करने की चेष्टा करता है, जिससे वह आदर्श स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए अपनी अधिकृत स्वतंत्रता का समुचित उपयोग कर सके। इसलिए हिन्दू धर्म किसी को किन्हीं विशिष्ट मतवादों, उपासना के प्रकारों अथवा वाह्य आचारों को ग्रहण करने के लिए वाध्य नहीं करता। इसके फलस्वरूप हिन्दू धर्म की सीमा के अन्तर्गत हमें असंख्य सम्प्रदाय देखने को मिलते हैं, जिनके परात्पर तत्व एवं परमोपास्य के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रकार तथा भिन्न-भिन्न क्रियाकलाप, आचार एवं रीति-रिवाज़ पाए जाते हैं। परन्तु क्या इसका यह अर्थ है कि हिन्दू धर्म इतने सम्प्रदायों का एक निर्जीव समुदाय-मात्र है, उसमें एकता अथवा स्वतन्त्र जीवन है ही नहीं ? नहीं, ऐसी बात कदापि नहीं है। हिन्दू धर्म का एक शरीर तथा एक ही आत्मा है। वह एक अमर प्राणी है, जिसके शरीर में ये सब भेद संघटित एवं समन्वित रहते हैं और जिसकी आत्मा उन सबको अनुप्राणित एवं आलोकित करती रहती है। अवयव अवयवी से सम्बद्ध रहकर विकसित एवं नवीन होते रहते हैं। अवयवी उन्हें सम्बद्ध रखता है और वे उसका महत्व बढ़ाते रहते हैं।

(2) हिन्दू धर्म का शरीर

हिन्दू धर्म के शरीर की ओर दृष्टि डालने पर हमें कुछ ऐसे विशेष लक्षण दृष्टोगोचर होते हैं जो हिन्दुओं के सभी सम्प्रदायों में समान रूप से पाए जाते हैं और जो उन्हें एक सूत्र में बाँधे रखते हैं। हिन्दू धर्म की आत्मा ने इन बाहरी सामान्य लक्षणों में तथा उनके भीतर से अपने को प्रकट कर रखा है।

(क) भारत की राष्ट्रीय संस्कृति के प्रति आदर भाव

पहली मुख्य विशेषता है - हिन्दुओं के सभी सम्प्रदायों का भारत की सदा विकासोन्मुख राष्ट्रीय संस्कृति के प्रति आदर का भाव। सभी हिन्दुओं का वेदों पर, जिन पर उनका समान अधिकार है, अमर विश्वास है। प्राचीन भारतीय ऋषियों ने बुद्धि, नीति, कला एवं आध्यात्म के क्षेत्र में जो सबसे बड़ी करामातें कर दिखाई हैं, वेद उनके वाङ्मय प्रतीक हैं। उनका जीवन सादा, हृदय पवित्र तथा शरीर और मन निष्पाप थे तथा 'सत्यं शिवं सुंदरम्' एवं पूर्ण स्वतंत्रता के लिए उन्होंने सच्ची खोज की थी। इन्हीं सब कारणों से वे मनुष्य की बौद्धिक चेतना के समक्ष विश्वात्मा भगवान को प्रकट करने के लिए उपयुक्त माध्यम बने हुए हैं। वेदों में एक ही दिव्य मानव, एक मसीह, एक अवतार या एक पैगम्बर के उपदेश नहीं हैं। उनका दर्शन प्राचीन भारत की अनेक प्रबुद्ध आत्माओं को हुआ था। भारत के सर्वश्रेष्ठ मस्तिष्कों ने इनकी परस्पर तुलना करके उनकी एकवाक्यता तथा उनके अनुभव की परीक्षा की और उन्हें हिन्दू-समाज, हिन्दू-धर्म एवं हिन्दू-संस्कृति की सुदृढ़ भित्ति बनाया। उन्हें प्रमाण मानने का अर्थ है - भारतीय आत्मा के विकास की आदिम एवं पवित्रतम भूमिकाओं में भारत माता के अन्दर जो कुछ उत्तम से उत्तम बातें थीं - उन्हें निःसंकोच स्वीकार करना।

परन्तु भारतीय प्रतिभा की इन प्राचीनतम करामातों के प्रति स्वाभाविक आदर-भाव ही हिन्दुओं की एकता का एक मात्र कारण नहीं है। रामायण, महाभारत, स्मृतिग्रन्थ, तन्त्र, पुराण, एवं दर्शनों के प्रति, जो देश के परवर्ती प्रबुद्धतम मस्तिष्कों की कृतियाँ हैं, हिन्दुओं के सभी सम्प्रदायों का महान आदर है। भारतीय जीवन और संस्कृति के सभी विभागों में विचारों और आदर्शों को लेकर जो भी उन्नति हुई है, धार्मिक, कला और साहित्य, विज्ञान और दर्शन धर्मशास्त्र एवं कर्मकाण्ड तथा पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक व्यवस्थाओं के द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में भारतीय आत्मा का जो क्रमिक विकास हुआ है, ये सब ग्रन्थ उसी के प्रतीक हैं। हिन्दू जाति अतीत के गौरव को तथा अपने प्रति उनकी देन को कभी अस्वीकार नहीं करती। दूसरी ओर उसने प्राचीन शास्त्रों के वाचिक अर्थ के प्रति अथवा प्राचीन आचारों के वाह्यरूप के प्रति अनुचित पक्षपात कभी नहीं दिखलाया, किन्तु अपने को परिवर्तित स्थितिके अनुकूल बनाकर सदा ही सनातन धर्म का सच्चाई के साथ अनुगमन करने की चेष्टा की है। हिन्दू लोग अतीत के गौरव को सिर झुकाते हुए भी वर्तमान काल में विचार एवं क्रिया के स्वातंत्र्य की कदापि उपेक्षा नहीं करते तथा अपनी धारणा के अनुसार समुज्ज्वल भविष्य की ओर आगे बढ़ने से भी नहीं हिचकते। हिन्दुओं की शास्त्रों में श्रद्धा का स्वरूप है, अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर भारतीय इतिहास के अत्यन्त अर्वाचीन सृजनोन्मुख काल तक भारत ने ऊँचे से ऊँचा तथा उत्तम-से-उत्तम जो कुछ भी काम कर दिखाया है, उसके प्रति ठोस आदर का भाव एवं उसे बिना ननु-नच किये प्रमाण मानना।

(ख) राष्ट्र के संत-महात्माओं एवं वीरों के प्रति श्रद्धा

महान हिन्दू समाज के सभी वर्गों में एकता के उपर्युक्त बलवान सूत्र के अतिरिक्त उनमें भारत के राष्ट्रीय संत-महात्माओं एवं वीरों के प्रति - उन यशस्वी ऐतिहासिक व्यक्तियों के प्रति, जिन्होंने भारतीय प्रगति की किसी भी भूमिका में उसके धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक अथवा बौद्धिक जीवन पर किसी भी प्रकार का स्थायी प्रभाव डाला है - ठोस व्यक्तिगत आदरभाव भी है। वसिष्ठ और विश्वामित्र, मनु और याज्ञवल्क्य, नारद और कपिल, पाराशर और व्यास, आदि प्राचीन भारतीय मनीषियों ने, बुद्ध और शंकर, पारसनाथ और गोरखनाथ, चैतन्य और नानक, रामानुज और रामानन्द, कबीर और तुलसीदास, प्रभृति महान संतों एवं युग प्रवर्तकों ने, भगवान राम और भगवान् कृष्ण, जनक और हरिश्चन्द्र भीष्म और अर्जुन, ध्रुव और प्रह्लाद, आदि विख्यात राष्ट्रीय वीरों एवं राजर्षियों ने तथा भगवती सीता और

सावित्री, जगज्जननी सती और उमा, मैत्रेयी और गार्गी, प्रभृति भारत की आदर्श महिलाओं ने अपने को हिन्दू कहलाने वाले सभी पुरुषों एवं स्त्रियों के हृदय पर अटल नैतिक एवं जीवनचर्या में बहुविध अन्तर होने पर भी सामान्यतः हिन्दुमात्र प्रेरणा के इन शाश्वत सर्वसुलभ स्रोतों से प्रेरणाएं ग्रहण करते हैं और अपने को इन्हीं के कुटुम्बी रूप में अनुभव करते हैं।

इस प्रकार के सभी आदर्श पुरुषों और देवियों की स्मृति जो दिन-प्रतिदिन, मास-प्रतिमास, और वर्ष-प्रतिवर्ष विभिन्न प्रकार के उत्सवों एवं धार्मिक अनुष्ठानों तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाले पौराणिक आख्यानों एवं ऐतिहासिक घटनाओं की कथाओं, यात्राओं, अभिनयों एवं अन्य उल्लासपूर्ण खेल तमाशों के द्वारा जाग्रत ही नहीं अपितु अधिक जाज्वल्यमान एवं ताज़ी रखी जाती हैं, सभी युगों में तथा देश के सभी भागों में हिन्दू-समाज एवं धर्म के सभी अवयवों में सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक एकता बनाये रखती है तथा उसे और भी सुदृढ़ बनाती है। इतना ही नहीं, वह उनमें इस भावना को भी जाग्रत करती है कि श्रष्टि के आरम्भ से ही उनमें अमर जीवन की एक अविच्छिन्न धारा प्रवाहित हो रही है। हिन्दू जाति उन यशस्वी व्यक्तियों को, जिन्होंने सनातन तथ्यों को अपने जीवन में उतारा है, उन तथ्यों के सम्बन्ध में कोरे वादों एवं कल्पनाओं की अपेक्षा अधिक महत्व देती है।

(ग) राष्ट्रीय महत्त्व के स्थानों का आदर

हिन्दुओं के सभी सम्प्रदायों में एकता बनाये रखने वाला तीसरा सूत्र भारत के राष्ट्रीय महत्त्व के स्थानों के प्रति पवित्रता की बुद्धि है। वे स्थान, जो इस महान देश के सभी भागों में - नगरों एवं वनों में, नदियों तथा सरोवरों में, पर्वतों एवं उपत्यकाओं में बिखरे पड़े हैं, तीर्थ माने जाते हैं। प्रत्येक हिन्दू चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय अथवा जाति का क्यों न हो, अपने शरीर एवं अंतःकरण की शुद्धि के लिए अपनी स्थिति के अनुसार इनमें से अधिक से अधिक तीर्थों की यात्रा करना अपने जीवन का एक प्रधान धार्मिक कर्तव्य समझता है। इन तीर्थों की यात्रा करने में हिन्दू लोग शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध अथवा जैन तीर्थों में कोई भेद-बुद्धि नहीं करते। वे सभी भारत माता के प्रत्येक बच्चे की दृष्टि में पवित्र हैं।

ये तीर्थ क्या हैं ? अयोध्या, मथुरा, काशी, द्वारिका, पुरी, उज्जयिनी आदि किसी न किसी समय भारत के कुछ महान प्रतापशाली राजाओं की प्रसिद्ध राजधानियाँ थीं और राजनीतिक महत्त्व को खो देने के बाद भी इतनी शताब्दियों से भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के महान केन्द्रों के रूप में अपने गौरव को बनाये हुए हैं और भारतीय जीवन की विभिन्न दिशाओं पर स्थायी ढंग का ज़ोरदार प्रभाव डाले हुए हैं। दूसरे प्रकार के तीर्थ भारत की मुख्य-मुख्य नदियाँ हैं जो भिन्न-भिन्न प्रान्तों में बटी हुई हैं एवं उनमें परस्पर सम्बन्ध स्थापित किये हुए हैं तथा जो सभी वर्गों के लोगों के लिए सुख-समृद्धि, पवित्रता एवं बल का कारण बनी हुई हैं। गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिंधु और कावेरी - इन सात पवित्र नदियों का प्रत्येक हिन्दू को प्रतिदिन स्नान अथवा पीने के जल में आवाहन करना सिखाया जाता है। देश के किसी भी नगण्य कोने में स्थित छोटे से गाँव में वह क्यों न रहता हो, उसे यह बात याद रखनी होती है कि मैं महान और पवित्र भारत देश का निवासी हूँ और जिस जल से मैं स्नान करता हूँ, जिस जल को मैं पीता हूँ अथवा भगवान को चढ़ाता हूँ या जिससे मैं अपने पितरों का तर्पण करता हूँ, वह मातृभूमि की सम्पूर्ण पवित्र नदियों का सम्मानित जल है। इसी प्रकार हिमालय, विन्ध्याचल, नीलगिरि, इत्यादि महान पर्वत, जो उसे महान जन्मभूमि के सौन्दर्य, भव्यता एवं गौरव का स्मरण दिलाते हैं, वृन्दावन, दण्डकारण्य, नैमिषारण्य आदि महान वन, जिनमें प्राचीन तपोवनों एवं वनस्थित विश्वविद्यालयों तथा राष्ट्रीय वीरों के साहसपूर्ण कार्यों एवं राष्ट्रीय देव-देवियों की आनन्ददायनी क्रीड़ाओं की स्मृतियाँ

निहित हैं, द्वैपायन, पुष्कर, मानस, पम्पा, नारायण आदि महान सरोवर, जो अनेकों राष्ट्रीय संतों एवं धर्माचार्यों की स्मृति से पूत हैं - प्रत्येक हिन्दू इन सबका तीर्थों के रूप में स्मरण करता है, जहाँ का सारा वातावरण आध्यात्मिकता से सराबोर रहता है।

जो-जो स्थान विशेष भारत के पूज्य संत-महात्माओं की तपस्या अथवा आध्यात्मिक साधना से पवित्र हो चुके हैं, अथवा महान राष्ट्रीय वीरों या ऋषिकल्प विद्वानों की उदार कृतियों से गौरव को प्राप्त कर चुके हैं, अथवा जो राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक, बौद्धिक अथवा धार्मिक दृष्टियों से ऐतिहासिक महत्व रखने वाली महती घटनाओं के कारण चिरस्मरणीय हो गए हैं अथवा जिन्होंने अपने प्रभावोत्पादक प्राकृतिक सौन्दर्य एवं भव्यता से लोगों का ध्यान आकर्षित किया है, वे सामान्यतः सभी हिन्दुओं के लिए तीर्थरूप हैं; चाहे उनके धार्मिक सिद्धान्त अथवा सामाजिक रीति-रिवाज़ अथवा आचरण सम्बन्धी नियम कैसे भी क्यों न हों? इस प्रकार अपने सारे प्राकृतिक एवं अर्जित गौरव तथा अपने अतीत, वर्तमान एवं भविष्य को लिए हुए समग्र भारतवर्ष का प्रत्येक हिन्दू की दृष्टि में आध्यात्मिक अर्थ है। प्रत्येक हिन्दू बच्चा करीब-करीब अनजाने में ही भारतवर्ष को आदरपूर्वक एक सुन्दर एवं महान सजीव व्यक्ति - अपनी सन्तानों के प्रति वात्सल्य एवं करुणापूर्ण तथा उनकी सब प्रकार से अनिष्टों से रक्षा करने की शक्ति एवं साधनों से संपन्न भगवती जगदम्बा के रूप में स्मरण करना सीख जाता है। भारत के समस्त सम्प्रदायों एवं जातियों को हिन्दू धर्म की सर्वसंग्राहक भुजाओं के भीतर एक सूत्र में पिरोना तथा उनके जीवन एवं संस्कृति को एक विशेष रूप देने में यह भाव कितना प्रबल सहायक है - इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

३. हिन्दू धर्म और भारतवर्ष

इस प्रकार भारतमाता के प्रति इस सजीव बुद्धि को हिन्दू धर्म का शाश्वत एवं नित्य-नूतन शरीर कहा जा सकता है। हिन्दू धर्म का व्यापक रूप जो सभी सम्प्रदायों के हिन्दुओं की बुद्धि में उतरा हुआ है और जिसका उनके धार्मिक सिद्धान्तों, सामाजिक प्रथाओं एवं दार्शनिक मतवादों से कोई सम्बन्ध नहीं है, उसका स्वरूप है - भारत की नैतिक, बौद्धिक, ललित कला सम्बन्धी, सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक सम्पत्ति में जो कुछ भी अच्छा और महान है, उदात्त और सुन्दर है तथा महत्वपूर्ण और उपयोगी है, उसे पवित्र मानना एवं आध्यात्मिक रूप देना। जो कोई भी भारत माता को अपने जीवन की अधिष्ठात्री देवी के रूप में स्वीकार करता है, वह हिन्दू कहलाने का न्यायतः अधिकारी है। हिन्दू धर्म अपने कलेवर के अन्दर इस देश की तथा बाहर की सभी सभ्य एवं जंगली जातियों तथा सभी धार्मिक सम्प्रदायों एवं सामाजिक संघटनों को उनके धार्मिक सिद्धान्तों, भावनाओं एवं आचारों की तथा उनके सामाजिक विचारों, रीतियों और रिवाज़ों की विशेषताओं को मिटाये बिना ही हज़म कर जाने की शक्ति रखता है और उसने अतीत में ऐसा किया भी है। शर्त यही है कि वे भारत के गौरव पर गर्व करना सीख जाएँ, उनकी दृष्टि वस्तुतः भारतीय हो जाये और वे भारत की आत्मा से अनुप्राणित हों, जो नैतिक, बौद्धिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक साधन के विभिन्न रूपों द्वारा अतिप्राचीन काल से अपने को चरितार्थ कर रही है।

यह स्पष्ट है कि भारत को अलग-अलग कई देशों में विभाजित करने की बात कोई भी हिन्दू स्वीकार करना तो दूर रहा, शान्तिपूर्वक सोच भी नहीं सकता। इस विचार से उसके हृदय को वैसा ही आघात पहुँचता है जैसा अपनी माता के शरीर को खंड-खंड करने के विचार से पहुँच सकता है। इस विषय में उसकी भावना उसकी आत्मा के स्तर में गहरी बैठी हुई है। भारत को खंड-खंड कर देने का अर्थ है - हिन्दू जाति की मृत्यु। हिन्दुओं का अस्तित्व ही भारत की एकता के -

भारत एक सजीव आध्यात्मिक सत्ता है, इस भाव के साथ सम्बद्ध है, जो उनके लौकिक एवं पारलौकिक जीवन को उदात्त एवं पूर्ण बनाने के लिए उन्हें भौतिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक - सभी प्रकार का भोजन देती है। भारतमाता की पूजा एवं सम्मान अपने-अपने ढंग से हिन्दू धर्म के अन्तर्गत सारे धार्मिक सम्प्रदाय करते हैं और अपनी नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिए वे उसी से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। प्रत्येक हिन्दू का आध्यात्मिक ध्येय है - अपनी व्यष्टि आत्मा का भारत की आत्मा के साथ ऐक्यबोध करना, क्योंकि उसकी दृष्टि में भारत की आत्मा विश्वात्मा की अत्यन्त तेजस्वी अभिव्यक्ति है। हिन्दुओं की दृष्टि में भारत निरा भौतिक देश - भौतिक जगत का एक क्षुद्रांश ही नहीं है, अपितु विश्वात्मा का एक विशिष्ट शरीर है और इस रूप में वह आध्यात्मिकता का सनातन स्रोत है। इसी देश में भगवान प्रत्येक युग-पर्यय में भ्रान्त एवं मूढ़ जगत को दिव्य आलोक देने तथा उसे शान्ति सामञ्जस्य, एकता एवं आनन्द का सच्चा मार्ग दिखलाने के लिए विशेष रूप से प्रकट होते हैं।

४. हिन्दू धर्म की आत्मा

अब मैं हिन्दू धर्म की आत्मा के सम्बन्ध में कुछ शब्द कहूँगा। यह स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म की आत्मा का मनुष्य की अपूर्ण भाषा में पूर्णतया निर्देश नहीं किया जा सकता। बौद्धिक ज्ञान, सामाजिक प्रथा, धार्मिक सद्धान्त आदि में महान अन्तर होते हुए भी हम एक ही आत्मा को सभी सम्प्रदायों के हिन्दुओं की दृष्टि तथा व्यापार को अनुप्राणित एवं आलोकित करते हुए अनुभव कर सकते हैं, परन्तु इन सब भेदों में तथा उन भीतर से अपने को अभिव्यक्त करने वाली इस अमर आत्मा की तर्कशास्त्रानुमोदित परिभाषा नहीं की जा सकती। अन्य साम्प्रदायिक मज़हबों की भाँति हिन्दू धर्म भी यदि विशिष्ट पैगम्बरों के नपेतुले उपदेशों से आविर्भूत होता, यदि विशिष्ट आचार्य-परम्परा के द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों के आधार पर ही इसकी स्थापना हुई होती, तो इसकी आत्मा का उन उपदेशों अथवा सिद्धान्तों की भाषा में निर्देश किया जा सकता था। परन्तु हिन्दू धर्म में ऐसी कोई मान्यतायें नहीं हैं जिन्हे उसका प्राण कहा जा सके। उसकी आत्मा ईश्वर के भेजे हुए दिव्य मानव के द्वारा सदा के लिए निर्धारित किन्ही सिद्धान्तों, किन्हीं नियमों एवं कानूनों, किन्ही विचारों, भावनाओं तथा क्रियाकलापों, के अन्दर बद्ध नहीं है। हिन्दू धर्म की आत्मा स्वयं अपने को अभिव्यक्त कर रही है - स्वयं उन्नत, स्वयं विकसित हो रही है, युग-युग में मनुष्यों की बाहरी परिस्थितियों में तथा उनकी शारीरिक एवं मानसिक योग्यताओं में जो कुछ परिवर्तन होता है, उसके अनुकूल हिन्दू धर्म की आत्मा अपनी एकता तथा विशेषता को बिना खोये हुए विचारों, भावनाओं एवं क्रियाकलापों की समयोचित धाराओं के रूप में अपने को अभिव्यक्त करती आ रही है। यदि हम उसका किन्ही ऐसे दार्शनिक अथवा धार्मिक सम्प्रदायों, नैतिक नियमों अथवा सामाजिक प्रथाओं की भाषा में निर्देश करना चाहें, जो उससे निकले हैं और जो उसके द्वारा अनुप्राणित एवं आलोकित हैं तो हमारी वह परिभाषा निश्चय ही एकदेशीय, अपूर्ण एवं वाह्य होगी।

आत्मा की परोक्ष अनुभूति हो सकती है, परन्तु उसका किसी माध्यम के द्वारा निर्देश नहीं किया जा सकता। हाँ, उसकी अभिव्यक्ति के सार्वभौम प्रकारों का विमर्श करने से हम उनकी मानसिक कल्पना अवश्य कर सकते हैं।

(क) जीवन एवं जगत के प्रति आध्यात्मिक दृष्टि

हिन्दू धर्म के आत्मा की जो सबसे प्रधान एवं विशिष्ट अभिव्यक्ति मालूम होती है, वह है जीवन एवं जगत के प्रति आध्यात्मिक दृष्टि। हिन्दुओं का जीवन मुख्यतया आध्यात्मिक जीवन है। हिन्दुओं की दृष्टि में मनुष्य विवेक बुद्धि,

नैतिक भावना अथवा आध्यात्मिक भावना से युक्त प्राणी नहीं है, वह तो सूक्ष्मविशिष्ट स्थूलदेहधारी चेतन आत्मा है। आध्यात्मिक स्वरूप ही मनुष्य का वास्तविक स्वरूप माना जाता है, अधिभौतिक स्वरूप, मनोमय स्वरूप, बौद्धिक स्वरूप तथा नैतिक स्वरूप भी उसके अधीन माने जाते हैं। वे उसकी अभिव्यक्ति के क्षेत्र इस वैचित्रमय जगत में उसकी स्वानुभूति एवं चरितार्थता के उपकरण हैं, उसके अन्तर्निहित परम आदर्श के अनुवर्ती हैं, बन्धन और अपूर्णता, राग और द्वेष, शोक और चिन्ता, जन्म और मृत्यु सूक्ष्मविशिष्ट स्थूल शरीर के पीछे लगे हुए हैं। परन्तु आत्मा जो इस शरीर का स्वामी है और जो इसके अन्दर तथा इसके द्वारा स्वरूप-लाभ करता है, शाश्वत एवं अमर है। वह स्वरूपतः शुद्ध, सुन्दर, एवं आनन्दमय तथा सब प्रकार के बन्धनों एवं सीमाओं से परे है। आत्मा इस शरीर को अपना स्वरूप मान बैठा है, इसी से वह दुःख पाता है। इस सूक्ष्मविशिष्ट स्थूल शरीर की माँगों को यदि हम जीवन में प्रधानता देने लग जावें, तो दुःख अवश्यम्भावी है। आत्मा का ध्येय होना चाहिए - इन माँगों को संयत करना तथा उदात्त बनाना, जीवन की सब माँगों को आध्यात्मिक आदर्श के अनुकूल बनाना तथा क्रमशः इस सम्पूर्ण शरीर को चिन्मय बनाना। शरीर, मन एवं इन्द्रियों का उनके सम्पूर्ण कार्यक्षेत्रों में आत्मा के द्वारा शासन होना चाहिए ताकि आध्यात्मिक जीवन में अन्तर्निहित आदर्श की सिद्धि इसी जगत में हो सके।

इसीलिए हिन्दू संस्कृति के समस्त विभागों का धर्म के द्वारा शासन एवं समन्वय होता है। धर्म का वास्तविक अर्थ है - इस शरीर में आत्मा के नित्यशुद्ध, सुन्दर, आनन्दमय एवं चेतन स्वरूप का क्रमशः अनुभव करना। कला और साहित्य, विज्ञान और दर्शन, राजनीति और अर्थशास्त्र, पारिवारिक एवं सामाजिक संघटन, कानून और रिवाज़, सम्पत्ति तथा शारीरिक सुविधाओं के उत्पादन एवं विभाजन की विधियाँ - हिन्दू इन सबको सामान्यतः मानव जाति की आध्यात्मिक साधना की विभिन्न शाखाएँ मानता है, और हिन्दुओं के जीवन में इन सबका सार्वभौम आध्यात्मिक आदर्शों के द्वारा नियंत्रण होता है। एक सच्चे हिन्दू-परिवार में पति-पत्नी का, माता-पिता और संतान का, तथा भाइयों और बहिनों का परस्पर सम्बन्ध एक आध्यात्मिक सम्बन्ध होता है और उन्हें आध्यात्मिक दृष्टि से ही एक-दूसरे के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करना सिखाया जाता है। सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में समाज एवं राज्य के अंगों का परस्पर सम्बन्ध आध्यात्मिक होता है और पूर्णता की प्राप्ति के लिए ही प्रत्येक अंग को अपने सामाजिक एवं राजनीतिक कर्तव्यों का पालन करना होता है। अभिमान शून्य हृदय से समाज एवं राष्ट्र के हितसाधन में योग देने से, समाजरूपी महान शरीर की सेवा में लौकिक स्वार्थों की बलि देने से ही मनुष्य आध्यात्मिक पूर्णता की योग्यता प्राप्त करता है - ऐसा माना जाता है।

जड़ प्रकृति की अपेक्षा चेतन आत्मा की, भौतिक उन्नति की अपेक्षा आध्यात्मिक उन्नति की प्रधानता में हिन्दुओं का जो यह सार्वभौम विश्वास है, वही हिन्दू समाज की वर्णाश्रम व्यवस्था की आधार-शिला है। हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था में ब्राह्मणों एवं सन्यासियों के शीर्षस्थानीय होने का यही अर्थ है कि सभी वर्गों के हिन्दू भौतिक उत्कर्ष की अपेक्षा आध्यात्मिक श्रेष्ठता को स्वेच्छा से ऊँचा मानते हैं। देश की राजनीतिक, नैतिक, सैनिक एवं आर्थिक सत्ताएँ स्वेच्छा से स्वीकार की हुई अकिंचनता तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष की गौरवमयी महिमा के आगे नतमस्तक होकर उसकी सेवा में लग जाती हैं।

हिन्दुओं की बुद्धि विभिन्न श्रेणियों के चराचर प्राणियों से युक्त इस सम्पूर्ण विश्व को आध्यात्मिक दृष्टि से देखती है। यह जगत चिन्मय है, यह भगवान का विराट देह है। जगत की सारी वस्तुएँ और घटनाएँ भगवान की ही

अभिव्यक्तियाँ मानी जाती हैं। भगवान् के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में दार्शनिकों एवं संतो में मतभेद हो सकता है। परन्तु जनसाधारण का हार्दिक विश्वास तो यह है कि जगत का स्वरूप केवल वही नहीं है जो इन्द्रियों के अनुभव में आता है, किन्तु उसके पीछे एक चिन्मय आधार है और जगत में काम करने वाली सम्पूर्ण शक्तियाँ एक आध्यात्मिक उद्देश्य द्वारा नियन्त्रित हैं और एक चिन्मय इच्छाशक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। सभी हिन्दू जगत को अजर-अमर माता के रूप में नमन करते हैं, जो सम्पूर्ण जीवों को उत्पन्न करके उनका प्रेम और आनन्द के साथ पोषण करती है। यह प्रतीयमान विश्व, जो देखने में असंख्य प्रकार की वस्तुओं एवं घटनाओं से बना हुआ है, हिन्दुओं की दृष्टि में एक सजीव व्यक्ति है, जो असंख्य रूपों में अभिव्यक्त एक ही आत्मा, एक ही उद्देश्य, एक ही नियम से अनुप्राणित एवं ओतप्रोत है। हिन्दू अपने हृदय में विश्व की महत्ता एवं सौन्दर्य का अनुभव करते हैं तथा उसे माता के रूप में पूजते हैं। विश्व के चिन्मय स्वरूप की पूर्ण अनुभूति ही उनके चिन्मय स्वरूप की पूर्णता है। जीवन एवं जगत के प्रति यह आध्यात्मिक दृष्टि हिन्दू धर्म के आत्मा की अभिव्यक्ति है।

(ख) जगत के नैतिक शासन में विश्वास

हिन्दू धर्म के आत्मा की दूसरी महान अभिव्यक्ति हिन्दुओं का यह विश्वास है कि जगत के आभ्यन्तर शासन में नैतिक विधान की प्रधानता है। हिन्दू -मात्र इस नैसर्गिक विश्वास से अनुप्राणित है कि एक न्यायपूर्ण विधान जगत के जीवों में सुख-दुःख, सम्पत्ति और दरिद्रता, बल और निर्बलता, विवेक और मूर्खता, उच्चाकांक्षाओं और नीच प्रवृत्तियों, उदात्त भावनाओं और नीच मनोविकारों तथा अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों का विभाजन करता है। जीव-जगत में भौतिक कार्य-कारणभाव नैतिक कार्य-धारण भाव के सर्वथा अधीन एवं उसी के द्वारा नियन्त्रित है। प्रत्येक व्यक्ति अपने शुभाशुभ कर्मों का अनिवार्य फल भोगता है। अतः अपने कर्तव्य का मार्ग निश्चित करने में हिन्दू इसी बात का विचार करते हैं कि वह शुभ है अथवा अशुभ, उसका नैतिक परिणाम शुभ होगा अथवा अशुभ, यह शाश्वत नैतिक नियमों के अनुकूल है या नहीं। वे केवल अथवा मुख्यतया इस बात का विचार नहीं करते कि भौतिक दृष्टि से तथा भौतिक कार्यकारणभाव के विचार से उस कर्म से तात्कालिक लाभ होगा या हानि। उनके कर्मों का नियन्त्रण अधिकतर नैतिक विचार से होता है, लौकिक लाभ की दृष्टि से नहीं। नैतिक कार्यकारणभाव या कर्म के विधान में विश्वास हिन्दू धर्म का एक मुख्य सिद्धान्त है। इस विश्वास का अर्थ यह है कि मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है, अकेला वही अपने सुख-दुःख के लिए, अपनी मनोवृत्तियों के लिए, तथा अपने जीवन में आने वाले अनुकूल अवसरों तथा विघ्न-बाधाओं के लिए जिम्मेदार है। यह विश्वास उसे यह सिखलाता है कि किसी दूसरे के प्रति जिसके पास अधिक सम्पत्ति हो अथवा जो अधिक आराम भोगता हो अथवा जिसे अधिक पद-प्रतिष्ठा प्राप्त हो, ईर्ष्या, द्वेष या वैर का भाव मत रखो क्योंकि यह उसके पिछले कर्मों का फल है। वह उसे अपनी स्थिति को सुधारने के लिए दूसरों के साथ कटु प्रतिस्पर्द्धा करने से रोकता है, क्योंकि वह जानता है कि जो कुछ अनुकूलताएँ उसे प्राप्त हैं यदि वह उनका समुचित उपयोग करे और अपने चरित्र को उन्नत बनाये तो उसे नैतिक विधान के अनुसार ठीक समय पर अपने शुभ कर्मों का फल अवश्य मिलेगा। जगत के नैतिक शासन में विश्वास के साथ-साथ तथा उसी से पूरा-पूरा मेल खाता हुआ हिन्दुओं का विश्वास पूर्वजन्म के सिद्धान्त में है। मनुष्य का जीवन उसके वर्तमान भौतिक शरीर के जन्म से प्रारम्भ नहीं होता और न उस शरीर की मृत्यु के साथ उसका अंत होता है। कर्म का विधान ही प्रत्येक जीवन का नियन्त्रण करता है। वर्तमान जीवन में उसे जो योनि, जैसी योग्यता और जो अनुकूलताएँ प्राप्त हैं, वे सब उसके प्राक्तन कर्मों के नैतिक फल हैं। उसके जो कर्म वर्तमान जीवन में फलीभूत नहीं होते, वे भावी जन्मों में फलीभूत होंगे। प्रत्येक व्यक्ति को आत्मविकास एवं आत्मा की पूर्णता के लिए बार-बार अवसर दिए

जाते हैं। यह विश्वास प्रत्येक हिन्दू को पूर्णता एवं आनन्द की आशा से भर देता है और उसे वर्तमान जीवन की विपत्तियों को सहन करने की शक्ति प्रदान करता है।

(ग) मुक्ति का सिद्धान्त

हिन्दू धर्म की आत्मा एक दूसरे उच्च सिद्धान्त के रूप में अपने को अभिव्यक्त करती है। वह यह है कि मानवीय आत्मा की चरम आकांक्षा इतनी ऊँची है कि वह इस परिवर्तनशील जगत के सीमित भोगों से पूर्ण नहीं हो सकती तथा उसकी स्थायी पूर्ति कर्म बन्धन से, प्रतीयमान जगत के

सुख-दुःखों से तथा सब प्रकार की सीमाओं एवं उपाधियों से सर्वथा छूटने में ही है। हिन्दुओं के विश्वास के अनुसार सब प्रकार की सीमाओं को लॉघ जाना, जगत के नैतिक शासन से और उसके फलस्वरूप जन्म-मृत्यु एवं आपेक्षिक सुख-दुःखों के चक्र से भी छूटकर ईश्वरीय पूर्णता-निरतिशय आनन्द की नित्यस्थिति प्राप्त करना मानवीय आत्मा का नैसर्गिक अधिकार है। अपनी संसार-यात्रा का अन्त करने के लिए तथा अपने सांसारिक जीवन के परम उद्देश्यों को पूर्ण करने के लिए यह आवश्यक है कि मानवीय आत्मा अपने को अज्ञान और अहंकार से, इच्छाओं एवं वासनाओं से, साँसारिक प्रतिष्ठा एवं समृद्धि की आसक्ति से, भौतिक दृष्टि एवं दूसरों के साथ प्रतिस्पर्धा के भाव से मुक्त करे तथा निरतिशय ज्ञान, निःस्वार्थ प्रेम, अविचल शान्ति, क्लमषहीन पवित्रता एवं सौम्यता तथा समस्त भूतों के साथ अभेदबुद्धि सम्पादन करे और इस प्रकार भगवान् के साथ अभेद स्थापित करे। प्रत्येक हिन्दू की सर्वोच्च आकांक्षा यही होती है।

(घ) भगवान् का सर्वग्राही स्वरूप

अन्तोगत्वा मैं हिन्दू धर्म का एक महत्वपूर्ण स्वरूप बतला देना चाहता हूँ, जिसके कारण धर्मोन्माद या धर्मान्धता हिन्दुओं की बुद्धि में गहरी जड़ नहीं जमा सकी। ईश्वर एवं मुक्ति के सम्बन्ध में हिन्दुओं की ऐसी मान्यता है, जिसमें सभी मतों का समावेश हो जाता है। हिन्दू धर्म अधिकारपूर्वक यह कभी नहीं कहता कि ईश्वर का स्वरूप बस यही है - इससे भिन्न नहीं। वह इस बात की घोषणा नहीं करता कि अमुक संत अथवा पैगम्बर की अंतर्दृष्टि अथवा प्रजा ने परात्पर वस्तु के स्वरूप का पूर्णरूप से आकलन किया है। वह यह भी नहीं कहता कि परमोपास्य रूप से साकार भगवान् की सत्ता में विश्वास करना मानवीय आत्मा की आध्यात्मिक पूर्णता के लिए अनिवार्य है।

अवश्य ही ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में तीन मुख्य सिद्धान्त हैं, जो हिन्दू संस्कृति के प्रभाव में जन्मे एवं पले हुए प्रत्येक पुरुष एवं स्त्री के हृदय में, चाहे वह विद्वान हो या अनपढ़, काम करते हैं। पहली मान्यता है - निर्विशेष ब्रह्मपरका। इस रूप में वे ही सब कुछ एकमात्र तत्व माने जाते हैं। एक परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा परमात्मा नहीं है। केवल इतनी सी बात नहीं है अपितु एक परमात्मा की सत्ता के अतिरिक्त और किसी की सत्ता ही नहीं है। सारी सोपाधिक सत्ताएँ उस एक निरुपाधिक स्वतःसिद्ध सत्ता के आभास मात्र हैं। भीतर-बाहर सर्वत्र जो कुछ प्रतीत होता है, उसमें एकमात्र उन्हीं को देखना यही सच्चा ज्ञान है। वे निर्गुण हैं क्योंकि गुणों के साथ संबंधों का होना अनिवार्य है और जहाँ सम्बन्ध हैं वहाँ उनसे सम्बन्ध अन्य वस्तुएं भी होनी ही चाहिए। जो एक एवं अद्वितीय है, वह निर्गुण, नित्य, अपरिच्छिन्न एवं निर्विशेष तो होगा ही। सभी प्रातिभासिक सत्ताएँ स्वरूपतः उनसे अभिन्न हैं।

दूसरी मान्यता है, परमेश्वर के विषय में। इस रूप में वे समस्त जीवों एवं इन्द्रियगोचर पदार्थों के तथा अनन्त भेदों से युक्त अखिल विश्व के अधीश्वर हैं। इस सापेक्ष रूप में वे जगत की सम्पूर्ण परिच्छिन्न एवं अनित्य वस्तुओं के उत्पादक, नियन्ता एवं संहारक हैं। वे अनन्त शक्ति, ज्ञान एवं सौम्यता तथा अनन्त प्रकार के उत्तम गुणों से सदा सम्पन्न हैं, जिनके कारण सभी सत्पुरुष गाढ़ भक्ति एवं श्रद्धा से उनकी वन्दना करते हैं। परन्तु उनका कोई निश्चित नाम अथवा रूप नहीं है। वे समस्त नाम-रूपात्मक हैं। चूँकि नाम और रूप की सहायता के बिना मनुष्य के लिए चिन्तन सम्भव नहीं है अतः उनके चिन्तन एवं उपासना करने के लिए मनुष्य किसी भी नाम या रूप का उपयोग कर सकता है। किसी भी नाम या रूप को, जो मनुष्य के चित्त में जगदीश्वर भगवान् के सर्वेश्वर्यपूर्ण स्वरूप की स्फूर्ति कर सकता हो, हिन्दू भगवन्नाम अथवा भगवदरूप मान लेता है। प्रत्येक हिन्दू का विश्वास है कि ऐसे सभी रूप अतीन्द्रिय भगवान् के इन्द्रियगोचर रूप हैं। भगवान् के विषय में कौन-सी मान्यता कहाँ तक पूर्ण है, यह स्वाभाविक ही इस बात पर निर्भर करता है कि उपासक का बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास कहाँ तक हुआ है।

तीसरे, सभी हिन्दुओं का यह नैसर्गिक विश्वास है कि एक ही परमेश्वर इस जगत में अनेक देवताओं के रूप में अपने को अभिव्यक्त किये रहते हैं। इनमें से प्रत्येक देवता के सम्बन्ध में यह माना जाता है कि साक्षात् परमेश्वर ही एक विशिष्ट शरीर धारण करके उस रूप में प्रकट है और उसी शरीर में उनके ऐश्वर्य, ज्ञान, सौम्यता, श्री, सौन्दर्य एवं तेज की विशिष्ट कलाएँ प्रकट रहती हैं। इन देवताओं के विभिन्न नाम और विभिन्न रूप हो सकते हैं और उनके द्वारा विभिन्न शक्तियों एवं गुणों का प्रकाश हो सकता है। परन्तु स्वरूपतः वे एक दूसरे से अभिन्न हैं, क्योंकि उन सब में एकही परमात्मा का निवास है तथा एक ही परमात्मा उनमें तथा उनके द्वारा भिन्न-भिन्न लीलाएँ करते हैं। हिन्दुओं की दृष्टि में भगवान् के ये सभी रूप विज्ञान-मय एवं चिन्मय जगत में कम से कम उतने ही सत्य हैं जितने इस प्रतीयमान जगत में परिच्छिन्न जीव एवं इन्द्रियगोचर पदार्थ सत्य हैं। अतः कोई व्यक्ति अथवा समुदाय अथवा जाति, चाहे किन्हीं भी देवी-देवताओं की उपासना करे, अथवा जगदीश्वर की किसी भी

नाम-रूप से आराधना की जाय, हिन्दू इस प्रकार की उपासना अथवा इस प्रकार के किसी उपासक के प्रति द्वेष भाव नहीं रख सकता। इसलिए धर्मोन्माद, जो बहुधा नीचातिनीच पाशविक विकारों की अपेक्षा अधिक गिरानेवाला एवं भयावह होता है, हिन्दुओं के चित्त में कभी जड़ नहीं पकड़ सकता।

इस प्रकार हिन्दू धर्म की आत्मा अपने आपको सार्वभौम धार्मिक दृष्टि के रूप में तथा ईश्वर सम्बन्धी सभी विवेकपूर्ण मान्यताओं तथा सब प्रकार की आध्यात्मिक साधनाओं के समादर के रूप में अभिव्यक्त करती है। अतः हिन्दू धर्म विश्वधर्म का सच्चा नमूना है।

00000000